सुकवि-संकीर्तन

संपादक
सर्वप्रथम देव-पुरस्कार-विजेता
श्रीदुलारेलाल भार्गव
(सुधा-संपादक)

गंगा-पुस्तकमाला का उंतीसवाँ पुष्प

सुकवि-संकीर्तन

लेखक

स्व० आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

कतिपयनिमेषवर्तिनि जन्मजरामरणविह्वले जगति ;
कल्पान्तकोटिबन्धुः स्फुरति कवीनां यशःप्रसरम् ।

मिलने का पता—

गंगा-ग्रंथागार

३०, अमीनाबाद-पार्क

लखनऊ

द्वितीयावृत्ति

सजिल्द १।)] सं० १९९६ वि० [सादी ।।।)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-फाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

प्रथमावृत्ति का वक्तव्य

महामान्यवर पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी-लिखित 'सुकवि-संकीर्तन'-पुस्तक के साथ अपने प्रेमी पाठकों की सेवा मे उपस्थित होते हुए आज हम परम हर्ष का अनुभव कर रहे है। हिंदी-संसार को माननीय द्विवेदीजी का परिचय देने की आवश्यकता नहीं। आधुनिक हिंदी-साहित्य के निर्माण मे आपकी प्रभावशालिनी लेखनी ने बहुत बडा काम किया है। अकेले 'सरस्वती'-पत्रिका द्वारा हिंदी की जो स्तुत्य सेवा आपने की है, केवल उसी के कारण साहित्य के इतिहास मे आपका नाम सदा स्वर्णाक्षरों मे लिखा रहेगा। अस्तु। समय-समय पर आपने सुकवियों के संबंध मे जो परिचयात्मक लेख लिखे थे, 'सुकवि-संकीर्तन' मे उन्हीं का संग्रह है। आपकी लेखनी की सभी विशेषताएँ इनमे मौजूद है। एक ओर सुंदर, सरल, सरस और प्रौढ़ गद्य का चमत्कार है, तो दूसरी ओर लेखक का अपूर्व अध्यवसाय, स्पष्ट मानसिक विकास तथा बहुव्यापक ज्ञान प्रति पृष्ठ में प्रतिबिंबित है। इन मनोरंजक एवं शिक्षा-प्रद लेखो मे जो बाते वर्णित हैं, वे कभी पुरानी नहीं हो सकती। इन्हे बार-बार पढने पर भी जी नहीं ऊब सकता। हमारा विश्वास है कि अन्य रचनाओं के समान ही द्विवेदीजी के इस 'सुकवि-संकीर्तन' का भी हिंदी-संसार मे यथेष्ट आदर होगा। तथास्तु।

१।७।२४ दुलारेलाल भार्गव

द्वितीयावृत्ति का वक्तव्य

आनंद का विषय है, इस पुस्तक की आज हम द्वितीयावृत्ति निकाल रहे है। यह बिहार मे कोर्स मे भी रह चुकी है। आशा है, अन्य प्रांतो की शिक्षा-संस्थाएँ भी इसे अपनाएँगी।

कवि-कुटीर
२४।३।२६ } दुलारेलाल भार्गव

निवेदन

जीवन-चरित्र कभी पुराने नहीं होते। जिस उद्देश से वे लिखे जाते है, बहुत समय बीत जाने पर भी, उसकी सिद्धि में अंतराय नहीं आता। विद्वानो और महात्माओ के चरित से कुछ-न-कुछ अच्छी शिक्षा अवश्य मिलती है, और समय ऐसी शिक्षा के प्रभाव को मलिन या कम नहीं कर सकता। फिर, संस्मरणीय महाजनो के जीवन-चरित लिखे जाने और प्रकाशित होने पर, यदि इधर-उधर बिखरे पड़े रहे, तो उन्हे प्राप्त करने मे कठिनता भी होती है। यही सोचकर कवियों की यह चरित-मालिका यहाँ, इस रूप मे, प्रकाशित की जाती है। इसमें जो चरित है, वे लिखे जाने के समय के क्रमानुसार रक्खे गए है।

इस चरित-संग्रह से यदि पाठकों का घडी-दो घडी मनोरंजन ही हो सका, तो भी इसके प्रकाशन का आयास सफल हो जायगा।

जुही कलाँ, कानपुर
३२ ऑक्टोबर, १९२२

महावीरप्रसाद द्विवेदी

चरित-सूची

स्व० पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी

सुकवि-संकीर्तन

(१)

महामहोपाध्याय पंडित दुर्गाप्रसाद

हत-भाग्य भारतवर्ष पर विदेशी शत्रुओं के आक्रमण और आंतरिक राज्य-विप्लवों के कारण यद्यपि हमारी देव-वाणी संस्कृत के सहस्रशः अमूल्य ग्रंथ सर्वदा के लिये लोप हो गए, तथापि अनंत ग्रंथ रत्न अब तक छिपे पड़े हैं। इसका पता लगाना दुर्घट है कि इन ग्रंथों मे कितना ज्ञान-भांडार भरा पड़ा है। हमारे शासक राजपुरुषों की विद्या की अभिरुचि प्रशंसनीय है। वे अनेक देशों की भाषाओं को केवल ज्ञान-संपादन की कामना ही से सीखते है, और उन भाषाओं मे जो ग्रंथ अथवा जो विषय उपादेय होते है, उनका अनुवाद भी अँगरेजी मे करके उस भाषा के जाननेवालो को लाभ पहुँचाते है। जब से सर विलियम जोंस-नामक पंडित ने कालिदास के 'शाकुंतल'-नाटक का अनुवाद अँगरेजी मे किया, तब से पाश्चात्त्य देशों के विद्वानों को विदित हो गया कि संस्कृत-भाषा मे अनेक अमूल्य ग्रंथ विद्यमान हैं। तब से

वे लोग संस्कृत पढ़ने लगे, और उत्तमोत्तम ग्रंथों को खोज-खोजकर विलायत भी भेजने लगे। संस्कृत के प्राचीन ग्रंथों की उत्तमता की प्रशंसा जर्मनी, फ्रांस और इँगलैंड के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध विद्वानों के लेखों से अवगत करके गवर्नमेंट अब अपने संस्कृतज्ञ अधिकारियों से दुष्प्राप्य ग्रंथों का पता लगवाकर उनकी रक्षा करती है, और क्रमशः उनके छपाने का भी प्रबंध करती है। गवर्नमेंट की इस कृपा के हम लोग हृदय से कृतज्ञ हैं। हमारे ही पूर्वजों के बनाए और हमारे ही यहाँ सैकड़ों वर्षों से पुराने बस्तो मे बँधे पड़े ग्रंथों को कीड़ों का भक्ष्य होने से बचाने का सारा पुण्य प्रायः विदेशी विद्वानो ही को है। यह कृतघ्नता बहुत काल तक हम लोगो के पल्ले बँधी चली आई। परंतु संतोष की बात है कि विदेशियों की देखा-देखी इस देश के भी कोई-कोई विद्वान् कुछ दिनों से, हमारे बहते हुए आँसुओं को पोंछने की इच्छा से, इस ओर उद्यत हुए हैं, और प्राचीन पुस्तकों का पता लगाकर उनको नष्ट होने से बचाने का यत्न कर रहे है। इन विद्वानों मे महामहोपाध्याय पंडित दुर्गाप्रसाद का पहला नंबर है।

राजपूताने मे अलवर-राज्य के अंतर्गत हमजापुर-नामक एक गाँव है। वहीं पंडित दुर्गाप्रसाद के पूर्वज रहते थे। पंडितजी चौरासिया गौड़-ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम व्रजलाल था। पंडित व्रजलाल ज्योतिष-विद्या मे बड़े प्रवीण

थे। देश-पर्यटन करते-करते वह पंजाब पहुँचे, और वहाँ काँगड़ा-ज़िले की प्रसिद्ध देवी के स्थान मे बहुत काल तक पूजन-पाठ करते रहे। उस समय काश्मीर के महाराज गुलाब-सिंह लाहौर मे, कारागार मे, पड़े हुए अपने दिन काट रहे थे। पंडित व्रजलाल ने उनसे यह भविष्यद्वाणी कही कि आप अपनी इस दुरवस्था पर अधिक खेद न कीजिए; आप शीघ्र ही काश्मीर के राज्यासन पर फिर विराजमान होंगे। पंडितजी की उक्ति सत्य निकली, और महाराज गुलाबसिंह को फिर राज्य प्राप्त हुआ। जब वह काश्मीर पहुँचे, तब उन्होंने पंडितजी को अपना मुख्य ज्योतिषी नियत किया। इस प्रकार राजज्योतिषी नियत करके महाराज गुलाबसिंह ने उनका बड़ा सम्मान किया। तब से पंडित व्रजलाल वहीं सकुटुंब रहने लगे।

१८४६ ईसवी मे, जिस समय उनके पिता जंबू मे थे, पंडित दुर्गाप्रसाद का जन्म हुआ। दुर्गाप्रसाद जब बालक ही थे, तभी से उनमे बुद्धिमत्ता के चिह्न दिखलाई देने लगे थे। १८५० ईसवी मे, महाराज गुलाबसिंह के मरने पर, उनके पुत्र महाराज रणवीरसिंह को काश्मीर का राज्य प्राप्त हुआ। उनके पुत्र महाराज प्रतापसिंह—अर्थात् काश्मीर के वर्तमान राजा—और पंडित दुर्गाप्रसाद, दोनो समान वय के थे। महाराज प्रतापसिंह बाल्य काल मे सोमनाथ-नामक विद्वान् से विद्याभ्यास करते थे। उनको पंडित सोमनाथ से अकेले

पढ़ते हुए देख महाराज रणवीरसिंह ने यह सोचा कि यदि दुर्गाप्रसाद और प्रतापसिंह साथ ही अभ्यास करें, तो अच्छा हो। अतएव उन्होंने पंडित दुर्गाप्रसाद को महाराज प्रतापसिंह का सहपाठी बनाया। इस व्यवस्था से महाराज प्रतापसिंह का अभ्यास पहले की अपेक्षा अधिक उत्तम रीति पर होने लगा। इस प्रकार राजपुत्र के सहपाठी बनाए जाने से यह सिद्ध है कि पंडित दुर्गाप्रसाद बाल्यावस्था से ही बुद्धिमान् और सुशील थे। यदि उनमें ये गुण न होते, तो उनको काश्मीर के महाराज के प्यारे पुत्र प्रतापसिंह का साहचर्य कदापि न प्राप्त होता।

कुछ अधिक वयस्क होने पर दुर्गाप्रसाद ने पंडित देवकृष्ण से सांगोपांग ज्योतिष-शास्त्र पढ़ा। यह महाशय ज्योतिष-विद्या में बहुत प्रवीण थे। महाराज रणवीरसिंह ने इन्हें बनारस से बुलाया था। ज्योतिष-शास्त्र में पारदर्शी हो जाने पर प्रसिद्ध काश्मीरी पंडित साहबराम से उन्होंने साहित्य-शास्त्र पढ़ा। यह शास्त्र उनको और शास्त्रों की अपेक्षा अधिक रुचिकर और आनंद-जनक जान पड़ा। अतएव इसका अवलोकन वह बहुत काल तक करते रहे।

१८७६ ईसवी में पंडित दुर्गाप्रसाद के पिता पंडित व्रजलाल-जी का शरीर-पात हुआ। यह कहना कि विपत्ति अकेली नहीं आती, बहुत ठीक जान पड़ता है। पिता का स्वर्गवास होने के अनंतर, कुछ ही दिनों में, उनकी पत्नी का भी देहांत हो

गया। यही नहीं, पत्नी की मृत्यु के अनंतर उनके छोटे भाई ने भी स्वर्ग का मार्ग लिया।*

इस प्रकार विपत्ति के ऊपर विपत्ति पड़ने पर उनका चित्त अत्यंत उद्विग्न हो उठा, और उन्होंने जबू छोड़ अपनी जन्म-भूमि को जाने का निश्चय किया। इस निश्चय को कार्य-रूप में परिणत करने के पहले वह हिमालय के दर्शनीय स्थानों को देखने के लिये गए, और दूर-दूर तक घूमकर जबू लौट आए। इस प्रकार कुछ दिनों तक बाहर पर्यटन करने से उनके चित्त को थोड़ी-बहुत शांति मिली; परंतु जबू में अधिक समय तक रहने में असमर्थ होकर उन्होंने वहाँ से प्रस्थान कर दिया। मार्ग में अपने पिता के चिर-परिचित स्थल काँगड़ा होते हुए वह अपने घर, हमजापुर, आए। कुछ काल व्यतीत होने पर, अपने इष्ट-मित्रों और कुटुंबियों के इच्छानुसार, हमजापुर में, उन्होंने अपना दूसरा ब्याह किया, और वह सुख से रहने लगे।

पंडित दुर्गाप्रसाद जिस समय अपने गाँव, हमजापुर, में थे, उस समय उन्होंने जयपुर के महाराज रामसिंह की गुण-ग्राहकताइत्यादि-संबंधिनी बहुत प्रशंसा सुनी। अतएव उनसे मिलने की इच्छा से वह जयपुर गए, और महाराज रामसिंह

* "अथ कालकरालमन्त्रणादिहहामुष्य वधूर्दिव ययौ;
अनुजोऽप्यगमत्ततः परं सदनास्या हि गवेषणाय किम्।"
([illegible])

के आश्रित पंडित सरयूप्रसाद के यहाँ ठहरे। शीघ्र ही दोनो का पारस्परिक सौहार्द हो गया। दोनो विद्वान्, दोनो रसिक। फिर क्यों न सौहार्द हो? इसी समय, अर्थात् १८७७ ईसवी मे, महाराज रामसिंह, उस बड़े दरबार मे, निमंत्रित होकर, देहली गए, जो लॉर्ड लिटन के शासन-काल मे हुआ था। उनके साथ पंडित सरयूप्रसाद भी थे। सरयूप्रसाद पंडित दुर्गाप्रसाद को भी अपने साथ ले गए थे। देहली से जब महाराज रामसिंह लौटे, तब मार्ग मे दुर्गाप्रसाद से उनका परिचय हुआ। परिचय का यह फल हुआ कि महाराज को यह तत्क्षण विदित हो गया कि पंडित दुर्गाप्रसाद बड़े विद्वान्, बड़े रसिक और बड़े सुशील है। अतएव उन्होंने पंडितजी को अपना आश्रित बना लिया।

इस प्रकार राजाश्रय मिलने पर पंडित दुर्गाप्रसाद जयपुर मे रहने लगे, और अपने पांडित्य से सबके मनों को मुग्ध करने लगे। उनको देशाटन से अधिक प्रीति थी। इसलिये महाराज रामसिंह की आज्ञा से एक बार वह फिर हिमालय की ओर गए। वहाँ गंगाद्वार, कुब्जकाम्र, हृषीकेश, देवप्रयाग, रुद्रप्रयाग, केदारनाथ और बदरीनाथ आदि स्थानो की यात्रा करके कुशल-पूर्वक वह जयपुर लौट आए।

पंडित दुर्गाप्रसाद को विद्या मे अतिशय अभिरुचि थी। ग्रंथावलोकन से उनको इतनी प्रीति थी कि वह अपना एक क्षण भी व्यर्थ न जाने देते थे। साहित्य तो उनको प्राणों से भी अधिक प्रिय था। वह प्राचीन पुस्तकों की खोज मे सदा

लगे रहते थे, और ढूँढ़-ढूँढकर बड़े प्रयत्न से उनका संचय करते थे। जिस समय वह दुर्लभ प्राचीन ग्रंथों की खोज मे लगे थे, उस समय बंबई के एलफिस्टन-कॉलेज के प्रधान संस्कृताध्यापक, डॉक्टर पिटर्सन, जयपुर गए। उनको गवर्नमेंट ने प्राचीन संस्कृत-ग्रंथों की खोज लगाने के लिये नियत किया था। इसी निमित्त वह जयपुर गए थे। वह वहाँ जिस पुस्तकालय मे, ग्रंथों की खोज में, पुस्तकावलोकन कर रहे थे, उसी मे पंडित दुर्गाप्रसाद भी उसी काम मे मग्न थे। वही डॉक्टर पिटर्सन की उनसे भेट हुई। दोनो ही सम-व्यसनी और विद्वान् थे, अतएव शीघ्र ही परस्पर स्नेह हो गया। क्रमशः उनकी मैत्री बढ़ती गई। यहाँ तक कि दोनो विद्वान् ग्रंथों का पता लगाने के लिये साथ ही देश पर्यटन का निकले, और काश्मीर, पंजाब, बंगाल, राजपूताना, गुजरात, मध्य-प्रांत और तैलंग इत्यादि देशों मे बहुत काल तक भ्रमण करके नाना प्रकार के काव्य, नाटक, भाण, चंपू, प्रहसन, अलंकार-शास्त्र इत्यादि ग्रंथ उन्होंने प्राप्त किए। इसके अतिरिक्त काश्मीर से वह स्वयं अनेक अलभ्य ग्रंथ अपने साथ पहले ही ले आए थे। जब वह बदरिकाश्रम की ओर देशाटन को गए थे, तब भी वहाँ से कितने ही हस्त-लिखित अनुपम ग्रंथ खोज लाए थे। जिन प्राचीन ग्रंथों का पता पंडितजी ने लगाया, उनमे कितने ही ग्रंथ १००० वर्ष से भी अधिक पुराने हैं; सात-आठ सौ वर्ष के पुराने ग्रंथ तो सैकड़ों ही हैं।

१८८५ ईसवी मे, प्राचीन पुस्तकों के प्रकाशन के संबंध मे, पंडित दुर्गाप्रसाद बंबई गए। वहाँ डॉक्टर पिटर्सन के स्थान पर उनसे और पडित काशिनाथ-पांडुरंग परव से भेट हुई। अनेक विषयों पर वार्तालाप होते-होते पुराने ग्रंथों के प्रकाशन के विषय में भी बात छिड़ी। फल यह हुआ कि पंडित दुर्गाप्रसाद और काशिनाथ निर्णयसागर-छापेखाने के अधिकारी जावजी-दादाजी के यहाँ गए। वहाँ तीनो व्यक्तियों की सलाह से 'काव्यमाला'-नामक मासिक पुस्तक निकालना निश्चित हुआ। यह १०० पृष्ठ की मासिक पुस्तक १७ वर्ष से बराबर निकल रही है। इसमे ऐसे अपूर्व प्राचीन ग्रंथ छपते हैं, जिनका देखना तो दूर रहा, नाम तक बहुतों ने न सुना था।

इस प्रकार 'काव्यमाला' के संपादन, ग्रथों के संशोधन और उनके प्रकाशन मे पंडित दुर्गाप्रसाद इधर जयपुर मे निमग्न थे, उधर हमजापुर मे उनकी दो लड़कियों पर सहसा महामारी ने धावा बोल दिया। यह दुर्वार्ता ज्यों ही उनको मिली, त्यों ही उन्होंने वहाँ के लिये प्रस्थान किया, परंतु घर पहुँचने के पहले ही लड़कियाँ काल-कवलित हो चुकी थीं। पंडित दुर्गाप्रसाद के अल्प-वयस्क लड़के, केदारनाथ, को भी महामारी की बाधा हुई; परंतु जगदीश्वर की कृपा से वह बच गया। तदनंतर स्वयं दुर्गाप्रसाद पर उस घातक रोग ने आक्रमण किया, और १८ मई, १८६२ ई० को उनके प्राण लेकर छोड़ा।

पंडित दुर्गाप्रसाद की मृत्यु का समाचार शीघ्र ही दूर-दूर

पहुँच गया। जिसने उनकी विद्वत्ता का कुछ भी परिचय पाया था, उसे भी वह अमंगल-समाचार सुनकर बहुत शोक हुआ। पंडितजी की कीर्ति योरप और अमेरिका तक पहुँची थी। अतः जर्मनी, अमेरिका और विलायत के सामयिक पत्रों और पुस्तकों में भी उनकी मृत्यु-वार्ता पर शोक-प्रदर्शक अनेक लेख प्रकाशित हुए। 'पायनियर', 'टाइम्स-ऑफ्-इंडिया', 'नेटिव ओपीनियन', 'इंदु-प्रकाश', 'ज्ञान-प्रकाश', 'केसरी', 'सुबोध-पत्रिका', 'गुजराती', और 'राजस्थान-समाचार' आदि इस देश के पत्रों ने उस समय पंडितजी के सद्गुणों का स्मरण करके अनेक विलाप-वेष्टित वचन कहे। दुर्गाप्रसादजी की मृत्यु का संवाद सुनकर डॉक्टर पिटर्सन ने, ५ जून, १८९३ ईसवी को, जो शोक-सूचक लेख 'टाइम्स-ऑफ्-इंडिया'-नामक अँगरेजी के दैनिक पत्र मे प्रकाशित किया, और जिसे हम नीचे * पूरा उद्धृत करते हैं, उसका आशय हम यहाँ पर दिए विना नहीं रह सकते—

"कल ही मुझे एक अतीव शोक-जनक समाचार मिला।

---

*I received only yesterday news of a meloncholy event which I ask your leave to make know in this way to the wide circle of scholars and friends for whom it will have the same sad interest that it has for myself Pandit Durga Prasad of Jeypore, on whom the Government of India sought, this year, to bestow a well-merited meed of honor, died of cholera, in

कृपा करके आप उसे अपने पत्र में प्रकाशित कर दीजिए; क्योंकि उसे सुनकर जितना दुःख मुझे हुआ है, उतना ही दूसरे विद्वानों और मित्रों को भी होगा। जयपुर के जिन पंडित दुर्गाप्रसाद को गवर्नमेंट ने, उनकी योग्यता का पुरस्कार-रूप, महामहोपाध्याय की पदवी देना चाहा था, उनका शरीर-पात हो गया। महामारी से उनकी मृत्यु हुई। मुझे अभी उस दिन उनका पत्र मिला था। वह पत्र जिस समय मुझे मिला, उसके कुछ ही पीछे शायद शरीरांतक आज्ञा ईश्वर के यहाँ से उनके पास पहुँची हो। वह पत्र उन्होंने बड़े उत्साह से लिखा था। उसमें काम-काज-विषयक अनेक सूचनाएँ थीं।

वह मेरे परम मित्र थे। उनके न रहने से जो हानि मुझे हुई है उस पर लिखने बैठने का यह समय नहीं। परंतु मुझे यह विश्वास है कि भारतवर्ष, योरप और अमेरिका के जिन विद्वानों को यह विदित है कि संस्कृत के पुनरुज्जीवन के लिये

---

his native village in the Ulwar State on the 18th of May last He had been summoned from Jeypore by the news of an outbreak of the disease in his house, and it was his cruel fate to witness the death of his two daughters, before he was himself attacked They and he have fallen victims to the epidemic which the Hardev on pilgrims are spreading through the land I had a letter from him just before the fatal summons must have reached him, full of spirit, and full, as ever, of plans for mutual work.

दुर्गाप्रसाद ने क्या-क्या किया है, उनको पंडितजी की अकाल-मृत्यु का संवाद सुनकर मर्मभेदी दुःख होगा। वह सच्चे विद्वान् थे; विद्या ही उनका सर्वस्व था। उनके साथ-साथ 'सुभाषितावली'-नामक संस्कृत-ग्रंथ का संपादन करते समय मुझे पहलेपहल उनकी विस्तृत विद्या, उनकी विशाल गुण-दोष-विवेचन-शक्ति और अपने देश के साहित्य पर उनकी

This is not the place in which to say much of the loss to myself of such a friend as he was But I know well that scholar, in India, in Europe, and in America, who have noted what Durga Prasad has done for the revival of Sanskrit studied in this land will bear with keen sorrow his untimely-death He was a true scholar, for whom learning was every thing While working with him at our joint edition of one of the Sanskrit Anthologies I first learned to admire his wide knowledge his profoundly critical spirit his disinterested devotion to the literature of his country His Kavyamala, a monthly Journal, in which, he has, with the assistance of public spirited publisher, alas, also ' lately deceased, rescued, so much of that literature, from the oblivion which was covering it, will be the enduring memorial of the scholar Those who knew him and loved him as I did, know, too, how much of the true nobility as well as of sound learning has been, by this sharp stroke, taken out of the world

निष्कपट भक्ति का परिचय मिला था। उनकी काव्यमाला, जिसमें अनेक ग्रंथ प्रकाशित करके उन्होंने उनको लुप्त होने से बचाया, उनकी विद्वत्ता की चिरकाल स्मारक रहेगी। जैसा मैं उनसे परिचित था, और जैसा मैं उन्हें प्यार करता था, वैसा ही जो-जो करते रहे है, वे अच्छी तरह जान सकेंगे कि इस काल के कराल दंडाघात ने, पंडित दुर्गाप्रसाद के साथ, कितनी महत्ता और कितनी विशाल विद्वत्ता को इस संसार से खींच लिया है।"

यह एक विदेशी संस्कृतज्ञ की शोकोक्ति है। इसी से इस बात का अनुमान करना चाहिए कि पंडित दुर्गाप्रसाद के इष्ट-मित्रों और उनके कार्य-कलाप से परिचय पानेवाले इस देश के विद्वानों को उनकी मृत्यु से कितना शोक हुआ होगा। वह इस देश के एक रत्न थे। उनकी विद्वत्ता अपार थी। सुनते है, पंडितजी ने अपनी पत्नी को भी सस्कृत में प्रवीण कर दिया था। हमारे एक मित्र ने उनकी पत्नी को अपने कानों संस्कृत बोलते सुना है। दुर्गाप्रसादजी जैसे विद्वान् थे, ईश्वर करे, उनका पुत्र, केदारनाथ, भी वैसा ही विद्वान् निकले। महाराज जयपुर ने केदारनाथ को अपने आश्रय मे रक्खा है।

वल्लभदेव-नामक एक प्राचीन पंडित ने अनेक अच्छे-अच्छे श्लोकों का संग्रह किया है, और उनका नाम सुभाषितावली रक्खा है। यह एक अद्भुत और परमोपयोगी ग्रंथ है। डॉक्टर पिटर्सन और दुर्गाप्रसाद ने मिलकर इसका संपादन

किया, और संशोधन-पूर्वक छपाया है। 'बाबे-संस्कृत-सीरीज'-नामक बंबई की सरकारी पुस्तक-मालिका मे गवर्नमेंट के व्यय से यह प्रकाशित हुआ है। पंडितजी की योग्यता और विद्वत्ता का पूर्ण परिचय पाकर बंबई की गवर्नमेंट ने काश्मीर के 'राजतरंगिणी'-नामक इतिहास का भी संशोधन करके उसे प्रकाशित करने के लिये उनसे कहा था। इस बृहत् इतिहास के दो भाग—अर्थात् प्रथम से अष्टम तरंग तक—पंडितजी ने अकेले ही, बहुत अच्छी तरह, संपादित किए। इतने ही मे निष्ठुर मृत्यु ने उन्हे इस लोक से उठा लिया, अतएव 'राज-तरंगिणी'-संबंधी शेष काम डॉक्टर पिटर्सन को ही करना पड़ा। दुर्गाप्रसादजी ने 'कथासरित्सागर' और 'शिशुपाल-वध' इत्यादि और भी कई ग्रंथों का संपादन किया, और निर्णय-सागर-प्रेस मे छपाया है। जिस पुस्तक को वह प्रकाशित करते थे, उस पुस्तक के कर्ता कवि का समय, उसकी जन्म-भूमि, उसके बनाए हुए अन्य ग्रंथों इत्यादि का विवेचन उपोद्घात मे बड़ी ही योग्यता से वह करते थे। उनके विवेचन से उनका पांडित्य और विस्तृत ग्रंथावलोकन, स्थल-स्थल पर, सूचित होता है। उनकी धारणा-शक्ति भी अपूर्व थी, कवियों का समय-निरूपण करने मे वह अनेक अश्रुत-पूर्व ग्रंथों के श्लोकों का प्रमाण देते थे।

पंडित दुर्गाप्रसाद के कार्यों मे 'काव्यमाला' उनकी कीर्ति की सबसे ऊँची पताका है। इस विद्वत्प्रिय मासिक पुस्तक को

अब लाहौर के ओरियंटल-कॉलेज के मुख्याध्यापक, महामहोपाध्याय पंडित शिवदत्त और बंबई के पंडित काशिनाथ-पांडुरंग परब संपादित करते हैं। इस माला मे जो ग्रंथ छपते है, वे अलग भी पुस्तकाकार मिलते हैं। बड़े-बड़े ग्रंथ पृथक्-पृथक् रहते है, और छोटे-छोटे कई एक, एक ही साथ, एक-एक गुच्छक (भाग) मे प्रकाशित होते हैं। ऐसे छोटे-छोटे मनोहर प्रबंध आज तक सौ-सौ, डेढ़-डेढ़ सौ पृष्ठों के १४ गुच्छकों मे निकल चुके हैं। इसके अतिरिक्त बड़े-बड़े कोई ८० ग्रंथ अलग ही पुस्तकाकार प्रकाशित हुए है। इनमे कोई-कोई ग्रंथ बड़े ही विचित्र हैं। यदि पंडित दुर्गाप्रसाद इन अलभ्य ग्रंथों को, अखंड परिश्रम करके, न एकत्र करते, और एकत्र करके इनके प्रकाशन का प्रबंध न करते, तो ये सब अमूल्य रत्न कुछ काल मे नष्ट हो गए होते। पंडितजी के अभूत-पूर्व कार्य का कुछ परिचय देने के लिये आज तक काव्यमाला मे प्रकाशित हुए मुख्य-मुख्य ग्रंथों के नाम हम यहाँ पर देना उचित समझते हैं—

काव्य

आर्या-सप्तशती	हर-विजय (५० सर्ग)
श्रीकंठ-चरित	स्तुति-कुसुमांजलि
धर्मशर्माभ्युदय	दशावतार-चरित
समयमातृका	चंद्रप्रभ-चरित
गाथा-सप्तशती	विष्णु-भक्ति-कल्पलता

सहृदयानंद
युधिष्ठिर-विजय
बाल-भारत
हर-चरित-चिंतामणि
सेतुबंध-महाकाव्य
राघव पांडवीय
द्विसंधान-महाकाव्य
भारतमंजरी
पतंजलि-चरित
हीरसौभाग्य
राघव-नैषधीय
रावणार्जुनीय

नाटक

कर्पूरमंजरी
दूतांगद
अनर्घराघव
भर्तृहरि-निर्वेद
कंस-वध
विद्या-परिणय
कर्णसुंदरी
रुक्मिणी-परिणय
जीवानंद
वृषभानुजा-नटिका
अद्भुत-दर्पण
अमृतोदय

चंपू, भाण और प्रहसन

पारिजातहरण-चंपू
श्रीनिवासविलास-चंपू
रससदन-भाण
शृंगारतिलक-भाण
मुकुंदानंद-भाण
मंदारमरंद-चंपू
उन्मत्तराघव-प्रेक्षाणक
शृंगारभूषण-भाण
लटकमेलक-प्रहसन

अलंकार और साहित्य-शास्त्र

काव्यालंकार
चित्र-मीमांसा
रसगंगाधर
काव्यानुशासन

काव्यालंकार-सूत्र — वाग्भटालंकार
काव्य-प्रदीप — अलंकार-शेखर
ध्वन्यालोक — साहित्य-कौमुदी
अलंकार-सर्वस्व — अलंकार-कौस्तुभ

फुटकर

प्राचीन लेखमाला — नाट्य-शास्त्र
प्राकृत पिंगल-सूत्र — वाणी-भूषण

कहाँ छ काव्यों के आगे सातवें काव्य-ग्रंथ का नाम तक इस प्रांत के पंडितों को पहले न विदित था, कहाँ अब, पंडित दुर्गाप्रसादजी की कृपा से, क्षेमेंद्र और रत्नाकर इत्यादि काश्मीर के महाकवियों के अनेक अद्भुत-अद्भुत काव्य सहज ही मिलने लगे। धन्य पंडितजी की विद्याभिरुचि, और धन्य पुस्तकों को एकत्र करने का अनुराग! उन्होंने वात्स्यायन मुनि-प्रणीत परम प्राचीन और प्रायः अप्राप्य काम सूत्रों को भी, जयमंगल-नामक टीका के साथ, छपाकर प्रकाशित कर दिया है। उनकी रसिकता और उनकी श्रम-सहिष्णुता की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। वह इतने ग्रंथ एकत्र कर गए हैं कि अनेक वर्ष-पर्यंत काव्यमाला में छपते रहने पर भी वे निःशेष न होंगे। पंडित दुर्गाप्रसाद यद्यपि इतने रसिक और काव्य-लोलुप थे, तथापि उनकी रचित कविता हमारे देखने में नहीं आई। प्राचीन महाकवियों के पीयूष-निंदित काव्य-रस का आस्वादन करते रहने के कारण शायद उनको अपने

मुख से कुछ कहने की इच्छा ही नहीं हुई। उनकी काव्यमाला की प्रत्येक संख्या के वेष्टन पत्र (टाइटिल-पेज) पर एक श्लोक छपा रहता है। वह शायद उन्हीं की प्रतिभा का नमूना है। वह श्लोक यह है—

"साधुर्जनः पश्यतु काव्यमाला-
मित्यर्थयामो जगदीश तुभ्यम्
कदापि मास्यां पततु प्रचण्डा
शनैश्चरस्येव खलस्य दृष्टिः।"

अर्थात् "हे जगदीश्वर, आपसे हमारी इतनी ही प्रार्थना है कि काव्यमाला को सज्जन ही देखें; शनैश्चर की दृष्टि के समान दुर्जनों की प्रचंड दृष्टि कदापि इस पर न पड़े।"

हम भी पंडितजी के साथ 'एवमस्तु' कहते हैं। इस श्लोक में जो उपमा है, वह बड़ी ही मनोहर है, और दुर्गाप्रसादजी के ज्योतिष-ज्ञान की भी परिचायक है। शनैश्चर का नाम ही बुरा है; उसकी दृष्टि तो और भी भयोत्पादक है। उसके पड़ने से काम बिगडे बिना नहीं रहता। उपमा की उत्कृष्टता के अतिरिक्त पद्य बहुत ही सरस और प्रसाद-गुण-परिपूर्ण है।

पंडित दुर्गाप्रसाद पंजाब के विश्वविद्यालय में संस्कृत के परीक्षक होते थे। 'संस्कृत-प्रावीण्य-वर्द्धिनी'-नामक एक सभा भी उन्होंने जयपुर में स्थापित की थी। उनकी दिगंत-व्यापिनी कीर्ति को सुनकर आस्ट्रिया-देश के प्रधान नगर, विएना, के संस्कृतज्ञ विद्वानों की सभा ने उनको वहाँ जाने के लिये आमं-

त्रण दिया था ; परंतु जाति-बधन के अवरोध ने उन्हे वहाँ न जाने दिया। उनके प्रचंड पांडित्य और उनकी अविश्रांत देश-सेवा से प्रसन्न होकर गवर्नमेंट ने उनको 'महामहोपाध्याय' को पदवी दी था ; परंतु यथोचित रीति पर उसके दिए जाने के पहले ही उन्होंने इस लोक से प्रयाण कर दिया। ईश्वर का आदेश !

दुर्गाप्रसादजी अपने समय का एक मिनट भी व्यर्थ न जाने देते थे। उनकी दिन-चर्या नियमित थी, उसी के अनुसार वह अपने काम यथासमय करते थे। वह प्रातःकाल ४ बजे उठते थे, और ६ बजे तक स्नानादिक नित्य-कृत्यों से निश्चित हो जाते थे। ६ से ६ बजे तक वह काव्यमाला का काम और ६ से ३ बजे तक भोजन, विश्राम और गृहस्थाश्रम के काम-काज करते थे। ३ से ५ बजे तक राज-दरबार, तदनतर ग्रंथावलोकन और लोगों तथा अपने मित्रों से भेंट। ६ बजे भोजनोत्तर शयन। इस क्रम मे उन्होंने कभी व्यतिक्रम नही होने दिया। इसलिये वह कभी बीमार भी नहीं हुए।

पंडित दुर्गाप्रसाद का चरित सर्वथा अनुकरण करने योग्य है। उनकी नियमित दिन-चर्या, उनका विद्या-प्रेम, संस्कृत के ग्रंथों को प्रकाशित करके लोकोपकार करने की उनकी उत्कट इच्छा, सभी गुण अनुकरणीय हैं। बाल्यावस्था मे अपनी सुशीलता और अपने सौम्य स्वभाव के कारण वह राजपुत्र के सहपाठी हुए, और प्रौढ़ावस्था में अपनी विद्या के बल से बड़े-

बड़े धुरंधर विद्वानों के मित्र हुए। दुर्गाप्रसादजी के चरित से यह स्पष्ट है कि एक सामान्य मनुष्य भी सदाचरण और सद्विद्या के बल से, सर्व-साधारण की तो कोई बात ही नहीं, बड़े-बड़े राजों-महाराजों का भी सम्मान प्राप्त कर सकता है, और अपनी कीर्ति-कौमुदी से देश-देशांतरों को धवलित भी कर सकता है।

[मई, १९०२

---

(२)

वंग-कवि माइकेल मधुसूदन दत्त

"अभ्रङ्कषोन्मिषितकीर्तिसितातपत्रः
स्तुत्यः स एव कविमण्डलचक्रवर्ती;
यस्येच्छयैव पुरतः स्वयमुज्जिहीते
द्राग्वाच्यवाचकमयः पृतनानिवेशः।"

(श्रीकंठ-चरित)

अर्थात् "आकाश-गामिनी कीर्ति को अपने ऊपर छत्र के समान धारण करनेवाला वही चक्रवर्ती कवि स्तुति के योग्य है, जिसकी इच्छा-मात्र से ही शब्द और अर्थ-रूपी सेना आप-ही-आप तत्काल उसके सम्मुख उपस्थित हो जाती है।"

वंग-भाषा के विख्यात ग्रंथकार वंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय ने लिखा है—

"कवि की कविता को जानने से लाभ है, परंतु कविता की अपेक्षा कवि को जानने से और भी अधिक लाभ है, इसमे संदेह नही। कविता कवि की कीर्ति है। वह हमारे हाथ ही मे है, उसे पढ़ने से ही उसका मर्म विदित हो जाता है। परंतु यह जानना आवश्यक है कि जो इस कीर्ति को छोड़ गया है, उसने इसे किन गुणों के द्वारा, किस प्रकार, छोड़ा है।

कविवर माइकेल मधुसूदन दत्त

"जिस देश मे किसी सुकवि का जन्म होता है, उस देश का सौभाग्य है। जिस देश मे किसी सुकवि को यश प्राप्त होता है, उस देश का और भी अधिक सौभाग्य है। जिनका शरीर अब नहीं है, यश ही उनका पुरस्कार है। जिनका शरीर बना है—जो जीवित हैं—उनको यश कहाँ? प्रायः देखा जाता है कि जो यश के पात्र होते हैं, उनको जीते-जी यश नहीं मिलता। जो यश के पात्र नहीं होते, वे ही जीते-जी यशस्वी होते हैं। साक्रेटिस, कोपर्निकस, गैलीलिओ, दांते इत्यादि को जीवित दशा मे कितना क्लेश उठाना पड़ा! वह यशस्वी हुए; परतु कब? मरने के अनंतर!"

वंकिम बाबू की इस उक्ति से हम सहमत हैं। मनुष्य के गुणों का विकास प्रायः मरने के अनंतर ही होता है। जीवित दशा मे ईर्षा, द्वेष और मत्सर आदि के कारण मनुष्य औरों के गुण बहुधा नहीं प्रकाशित होने देते। परंतु मरने के अनंतर राग, द्वेष अथवा मत्सर करना वे छोड़ देते हैं। इसलिये मरणोत्तर ही प्रायः मनुष्यों की कीर्ति फैलती है। यदि जीवित ही कोई यशस्वी हो, तो उसे विशेष भाग्यशाली समझना चाहिए। जीवित दशा मे किसी के गुणों पर लुब्ध होकर उसका सम्मान जिस देश में होता है, उस देश की गिनती उदार और उन्नत देशों मे की जाती है। आनंद का विषय है कि मधुसूदन दत्त के संबंध मे ये दोनो बातें पाई जाती हैं। उनकी जीवित दशा ही मे उनके देशवासियों ने उनका बहुत

कुछ आदर करके अपनी गुण-ग्राहकता दिखाई। और, मरने पर तो उनका जितना आदर हुआ, उतना आज तक और किसी बंग-कवि का नहीं हुआ।

मधुसूदन बाल्यावस्था ही से कविता करने लगे थे। परंतु, उस समय, वह अँगरेजी में कविता करते थे, बँगला में नहीं। वह लड़कपन ही से विलास-प्रिय और शृंगारिक काव्यों के प्रेमी थे। अँगरेजी-कवि बाइरन की कविता उनको बहुत पसंद थी। उसका जीवन-चरित भी आप बड़े प्रेम से पढ़ते थे। उनका स्वभाव भी बाइरन ही के समान उच्छृंखल था। स्वभाव में यद्यपि वह बाइरन से समता रखते थे, तथापि बँगला-काव्य में इन्होंने मिल्टन को आदर्श माना है। अँगरेज लोग मिल्टन को जिस दृष्टि से देखते हैं, बंगाली भी मधुसूदन को उसी दृष्टि से देखते है। मधुसूदन के 'मेघनाद-वध' की तुलना मिल्टन के "पाराडाइज़ लास्ट' से की जाती है। मधुसूदन के समय तक बँगला में अमित्राक्षर-छंद नही लिखे जाते थे। हमारे दोहे, चौपाई, छप्पय और घनाक्षरी आदि के समान उसमें विशेष करके पयार, त्रिपदी और चतुष्पदी आदिक छंदःप्रयोग ही किए जाते थे। लोगों का यह अनुमान था कि बँगला में अमित्राक्षर-छंद हो ही नही सकते। इस बात को माइकेल ने निर्मूल सिद्ध कर दिया। वह कहते थे कि बँगला-भाषा संस्कृत से उत्पन्न हुई है, अतएव संस्कृत में यदि इतने सरस और हृदय-ग्राही अमित्राक्षर-छंद लिखे जाते

हैं, तो बँगला मे भी वे अवश्य लिखे जा सकते है। इसको उन्होंने 'मेघनाद-वध' लिखकर प्रमाणित कर दिया। इस प्रकार के छंदों मे इस अपूर्व वीर-रसात्मक काव्य को लिखकर मधुसूदन ने वग-भाषा के काव्य-जगत् मे एक नए युग का आविर्भाव कर दिया। तब से लोग उनका अनुकरण करने लगे, और आज तक बँगला मे अनेक अमित्राक्षर-छंदोबद्ध काव्य हो गए। जब इस प्रकार के छंद बँगला मे लिखे जा सकते हैं और बड़ी योग्यता से लिखे जा सकते है, तब हिंदी मे भी उनका लिखा जाना संभव है। लिखनेवाला अच्छा और योग्य होना चाहिए। अमित्राक्षर-छंद लिखने मे किसी विशेष नियम के पालन की आवश्यकता नही। इन छंदों मे भी यति, अर्थात् विराम, के अनुसार ही पद-विन्यास होता है। वर्ण-स्थान और मात्राएँ भी नियत होती है। भेद केवल इतना ही होता है कि पादांत मे अनुप्रास नहीं आता। बँगला मे पयार आदि अमित्राक्षर-छंदो के अंत मे शब्दो का जैसा मेल होता है, वैसा अमित्राक्षर छंदों मे नहीं होता। एक बात और है। मित्राक्षर-छंदों मे जब जिस छंद का आरंभ होता है, तब उसमे अंत तक सम-संख्यक मात्राओं के अनुसार सब कहीं एक ही-सा विराम रहता है। परंतु मधुसूदन के अमित्राक्षर-छंदों मे यह बात नही है। वहाँ सबके यति-विषयक नियम यथेच्छ स्थान मे रक्खे गए हैं, यति के स्थानो की एकता नही है। जैसे किसी पंक्ति मे पयार-छंद के अनुसार आठ

और चौदह मात्राओं के अनंतर यति है, और किसी में त्रिपदी-छंद के अनुसार, छ और आठ मात्राओं के अनंतर।

मधुसूदन दत्त की मृत्यु के २० वर्ष पीछे बाबू योगेंद्रनाथ वसु बी० ए० ने उनका जीवन-चरित्र बँगला मे लिखकर १८६४ ईसवी मे प्रकाशित किया। उस समय तक माइकेल का इतना नाम हो गया था और उनके ग्रंथों का इतना अधिक आदर होने लगा था कि एक ही वर्ष मे इस जीवन-चरित की १००० प्रतियाँ बिक गईं। अतएव दूसरी आवृत्ति निकालनी पड़ी। यह आवृत्ति १८६५ ईसवी मे निकली। इस समय यही हमारे पास है। शायद शीघ्र ही एक और आवृत्ति निकलनेवाली है। यह कोई ५०० पृष्ठ की पुस्तक है। इस पुस्तक की बिक्री का विचार करके बँगला-भाषा के पढ़नेवालों का विद्यानुराग और उनकी मधुसूदन पर प्रीति का अनुमान करना चाहिए। इसी पुस्तक की सहायता से हम मधुसूदन का संक्षिप्त जीवन चरित लिखना आरंभ करते है।

बंगाल मे यशोहर (जेसोर) नाम का एक ज़िला है। इस ज़िले के अंतर्गत कपोताक्ष-नदी के किनारे सागरदाँड़ी-नामक एक गाँव है। यही गाँव मधुसूदन की जन्म-भूमि है। इनके पिता का नाम राजनारायण दत्त था। वह जाति के कायस्थ थे। राजनारायण दत्त कलकत्ते मे एक प्रसिद्ध वकील थे। वह धन और जन इत्यादि सब वस्तुओं से संपन्न थे। उन्होंने

चार विवाह किए थे। अपनी पहली पत्नी के जीते ही उन्होंने तीन बार और विवाह किया था। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। बहु-विवाह की रीति बंगाल में प्राचीन समय से चली आती है। अब तक कुलीन गृहस्थ दो-दो, चार-चार विवाह करते हैं। इस कुरीति के विषय में पंडित ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने एक बड़ी-सी पुस्तक लिख डाली है। मधुसूदन राजनारायण दत्त की पहली स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुए। उनकी माता का नाम जाह्नवी दासी था। वह खुलना-ज़िले के कटिपाड़ा-निवासी बाबू गौरीचरण घोष की कन्या थी। यह घोष-घराना भी दत्त-घराने के समान संपन्न और सम्माननीय था। मधुसूदन की माता जाह्नवी पढ़ी-लिखी थीं। उनके गर्भ से १८२४ ईसवी की २५वीं जनवरी को मधुसूदन ने जन्म लिया।

मधुसूदन के पिता राजनारायण दत्त चार भाई थे। राजनारायण सब भाइयो मे छोटे थे। मधुसूदन के पीछे दो भाई और हुए, परंतु वे पॉच वर्ष के भीतर ही मर गए। उनके और कोई भाई-बहन नहीं हुए। जिस समय मधुसूदन का जन्म हुआ, उस समय दत्त-वंश विशेष सौभाग्यशाली था। चार भाइयों मे सबसे छोटे राजनारायण के मधुसूदन ही एक पुत्र थे। अतएव बड़े ही लाड़-प्यार से इनका पालन होता था। जो कुछ यह कहते थे, वही होता था और जो कुछ यह मॉगते थे, वही मिलता था। यदि यह कोई बुरा काम भी करते या करना

चाहते थे, तो भी कोई कुछ न कहता था। मधुसूदन की उच्छृङ्खलता का आरंभ यहीं से—उनकी शैशवावस्था ही से—हुआ।

मधुसूदन सात वर्ष के थे, जब उनके पिता ने कलकत्ते की सदर-दीवानी अदालत में वकालत करना आरंभ किया। मधुसूदन ने सहृदयता और बुद्धिमत्ता आदि गुण अपने पिता की प्रकृति से और सरलता, उदारता, प्रेम-परायणता आदि अपनी माता की प्रकृति से सीखे। उनके माता-पिता बड़े दानशील थे। दुःखितो और दरिद्रों के लिये वह सदा मुक्त-हस्त रहते थे। यह गुण उनसे उनके पुत्र ने भी सीखा। मधुसूदन जब किसी को कुछ देते थे, तब गिनकर न देते थे। हाथ में जितने रुपए-पैसे आ जाते उतने सब, बिना गिने, वह दे डालते थे।

राजनारायण बाबू मधुसूदन को अपने साथ कलकत्ते नहीं ले गए। उन्हे वह घर पर ही छोड़ गए। वहाँ, अर्थात् सागर-दाँड़ी की ग्राम-पाठशाला में, मधुसूदन बड़े प्रेम से पढ़ने लगे। धनियों के लड़के प्रायः पढ़ने-लिखने में मन नहीं लगाते। परंतु मधुसूदन में यह बात न थी। वह बड़े परिश्रम, बड़े प्रेम और बड़े मनोयोग से विद्याध्ययन करते थे। उनकी माता ने विवाह के अनंतर पढ़ना-लिखना सीखा था। वह बँगला की रामायण और महाभारत बड़े प्रेम से पढ़ा करती और अच्छे-अच्छे स्थलों को कंठ कर लेती थी। मधुसूदन जब बँगला पढ़ लेने लगे, तब वह उनसे भी इन पुस्तकों को

पढ़वाती और उत्तम-उत्तम स्थलों की कविता को कंठ करवाती थीं। मधुसूदन की काव्य-प्रियता का यहीं से सूत्रपात हुआ समझना चाहिए। उनमें काव्य की वासना को उत्तेजित करने का मूल-कारण उनकी माता ही हैं। क्रमशः मधुसूदन का प्रेम इन पुस्तकों पर बढ़ने लगा। वह यहाँ तक बढ़ा कि जब वह संस्कृत, फ़ारसी, लैटिन, ग्रीक, अँगरेजी, फ्रेंच, जर्मन और इटालियन आदि भाषाओं मे बहुत कुछ प्रवीण हो गए, तब भी उन्होंने रामायण और महाभारत का पढ़ना न छोड़ा। जब वह क्रिश्चियन हो गए, और उन्होंने सब प्रकार अंगरेजी वेश-भूषा स्वीकार कर ली, तब, उनके मदरास से लौट आने पर, एक बार एक मित्र ने उनको काशिदास-कृत बँगला-महाभारत पढ़ते देखा। यह देखकर उसने मधुसूदन से व्यंग्य-पूर्वक कहा—"यह क्या? साहब लोगों के हाथ में महाभारत!" मधुसूदन ने हँसकर उत्तर दिया—"साहब हैं, इसलिये क्या किताब भी न पढने दोगे? रामायण और महाभारत हमको इतने पसंद हैं कि उनको बिना पढ़े हमसे रहा ही नहीं जाता।"

मधुसूदन के गाँव की पाठशाला के अध्यापक भी कविता-प्रेमी थे। उनको फ़ारसी की कविता में अच्छा अभ्यास था। वह फ़ारसी की अच्छी-अच्छी कविताएँ अपने विद्यार्थियो से कंठ कराकर सुनते थे। मधुसूदन ने फ़ारसी की अनेक कविताएँ कंठ की थीं। उनके काव्यानुराग का एक कारण यह

भी है। जब मधुसूदन कोई बारह-तेरह वर्ष के हुए, तब उनके पिता उन्हे कलकत्ते ले गए। वहाँ खिदिरपुर मे उन्होंने एक अच्छा मकान बनवाया था। कलकत्ते मे मधुसूदन पिता के पास रहने लगे। पहले कुछ दिन खिदिरपुर की किसी पाठशाला मे उन्होंने पढ़ा। फिर, १८३७ ईसवी मे, उन्होंने हिंदू-कॉलेज मे प्रवेश किया। इस कॉलेज मे वह १८४२ ईसवी तक पढ़ते रहे। जिस समय उन्होंने उसे छोड़ा, उस समय उनको अँगरेजी में इतनी व्युत्पत्ति हो गई थी, जितनी बी० ए०-परीक्षा मे पास हुए विद्यार्थी को होती है। अँगरेजी-साहित्य मे तो उन्होंने बी० ए०-क्लास के विद्यार्थी से भी बहुत अधिक प्रवीणता प्राप्त कर ली थी। छ वर्ष मे वर्णमाला से लेकर बी० ए० तक की शिक्षा प्राप्त कर लेना कोई साधारण बात नही है। आजकल छ वर्ष तक अँगरेजी पढ़कर लड़कों को बहुधा एक शुद्ध वाक्य भी अँगरेज़ी में लिखना नहीं आता। इन छ वर्षो मे मधुसूदन ने अपने से अधिक अवस्थावाले और ऊँचे दर्जो मे पढ़नेवाले विद्यार्थियों का भी अतिक्रम करके प्रशंसा और, उसके साथ ही, छात्र-वृत्ति भी पाई। कॉलेज मे अनेक ग्रंथ पढ़ने के लिये उनका जैसा नाम था, वैसा ही उत्तम अँगरेजी लिखने के लिये भी। उनके बराबर अच्छी अँगरेजी और कोई लड़का न लिख सकता था। वह पहले गणित मे प्रवीण न थे। उनको गणित अच्छा न लगता था। इसलिये गणित-शास्त्र के अध्यापक, समय-समय पर, गणित मे परिश्रम करने के लिये

उनको उपदेश दिया करते थे। एक बार उनके सहपाठियों मे न्यूटन और शेक्सपियर के संबंध मे वाद-विवाद होने लगा और लोगो ने न्यूटन का पक्ष लिया। परंतु काव्य के प्रेमी मधुसूदन ने शेक्सपियर को ही श्रेष्ठता दी। उन्होंने कहा—"इच्छा करने से शेक्सपियर न्यूटन हो सकता है, पर न्यूटन शेक्सपियर नही हो सकता।"

उसी दिन से वह गणित मे परिश्रम करने लगे और थोड़े ही दिनों मे गणिताध्यापक के दिए हुए एक महाकठिन प्रश्न का उत्तर, जिसे क्लास का और कोई लड़का न दे सका, देकर अपने कथन को यह कहकर पुष्ट किया कि "क्यों, चेष्टा करने से शेक्सपियर न्यूटन हो सकता है या नही ?"

मधुसूदन अपने पिता के अकेले पुत्र थे। घर मे अतुल संपत्ति थी। अतएव लड़कपन ही मे उनको व्ययशीलता के दोष ने घेर लिया। जैसे-जैसे वह तरुण होने लगे, वैसे-ही-वैसे वेश-भूषा बनाने, अच्छे-अच्छे कपडे पहनने, अखाद्य खाने और अपेय पीने की अभिलाषा ने उनको अपने अधीन कर लिया। वह मनमानी करने लगे। अपने सहपाठियो-के साथ वह मास-मदिरा का स्वाद लेने लगे; एक-एक मोहर देकर अँगरेजी नाइयो से वाल कटाने लगे; और अपरिपक्व अवस्था ही मे गौरांग-नारियो से प्रेम की अभिलाषा करने लगे। अँगरेजी-कवि, लॉर्ड बाइरन, के समान युवा होते ही अतृप्त प्रेम-पिपासा के साथ भोगासक्ति और रूप-लावण्य ने मधुसूदन को ग्रास कर

लिया। उस समय हिंदू-कॉलेज के विद्यार्थी शराब और कबाब को सभ्यता मे गिनते थे। इस आचरण के लिये उनके अध्यापक भी बहुत कुछ उत्तरदाता थे। कॉलेज के अध्यापकों में डिरोजिओ और रिचार्डसन साहब आदि अध्यापक विद्या और बुद्धि मे असाधारण होने पर भी नीति-परायण न थे। उनकी दुर्नीति, उनकी उच्छृखलता और उनकी संयम-हीन वृत्ति का बहुत कुछ प्रभाव उनके छात्रों पर पड़ा। मधुसूदन को जो कष्ट पीछे से भोगने पड़े, उनका अंकुर कॉलेज ही से उनके हृदय मे उगने लगा था। स्वभाव ही से वह तरल-हृदय और प्रेम-पिपासु थे। बाइरन की उन्माद-कारिणी शृंगारिक कविता ने, जिसे वह बड़े आग्रह और आदर से पढ़ते थे, उनके मस्तक को और भी घूर्णित कर दिया। बाइरन के जीवन-चरित को पढ़कर मधुसूदन ने सुनीति और मिताचार की ओर पाठशाला ही से अवज्ञा करना सीख लिया।

सागरदाँड़ी मे काशिदास और कृत्तिवास की रचना पढ़ने, ग्राम-पाठशाला मे फारसी की अनेक शेरों को कंठ करने और हिंदू-कॉलेज मे रहने के समय बाइरन आदि अँगरेजी-कवियों की कविता का आस्वादन करने से मधुसूदन को कविता लिखने की स्फूर्ति होने लगी।

बहुत ही थोड़ी अवस्था मे उन्होंने कविता लिखना आरंभ किया, परंतु अँगरेजी मे, बगला मे नहीं। अपने सहपाठी लड़कों के साथ बातचीत करने के समय भी वह कविता मे बोलने

लगे; पत्र भी कविता मे कभी-कभी लिखने लगे; और बाइरन का अनुकरण करके अनेक छोटी-छोटी शृंगारिक कविताएँ भी लिखने लगे। कॉलेज मे उनके एक परम मित्र थे। उनका नाम था गौरदास बसाक। उनको अपनी कविताएँ मधुसूदन प्रायः भेट करते थे। उनसे कोई किताब मॉगते अथवा उनको कोई किताब लौटाते समय वह जो पत्र लिखते थे, वे भी कभी-कभी पद्य ही मे। एक नमूना लीजिए—

Gour, excuse me that in verse
My muse desireth to rehearse
The gratitude she oweth thee,
I thank you and most heartily
The notion that my friend thou art,
Makes me reject the flatterer's art
Here is your book,—my thanks too here,
That as it was, and these sincere
Believe me, most amiable Sir,
Your most devoted Servant,

Kidderpore THE POET.

इस पद्य मे हार्दिक धन्यवाद प्रकाशित करने के लिये क्षमा मॉगते हुए आप कहते है—"आप मेरे मित्र है। इस बात का ध्यान मुझे ख़ुशामदाना ढंग को धता बताने के लिये विवश

करता है। वैसी-की-वैसी ही अपनी यह पुस्तक और मेरे ये हार्दिक धन्यवाद स्वीकार कीजिए, और कृपालु महाशय, सदा मुझे अपना अनुरक्त दास समझिए।

कवि"

इस अँगरेजी-पद्य के नीचे मधुसूदन अपने को अपने ही हाथ से 'कवि' लिखते हैं। इससे सिद्ध है कि बाल्यावस्था ही से उनकी यह धारणा हो गई थी कि वह कवि है। उनकी अँगरेज़ी की शृंगारिक कविता का भी उदाहरण अँगरेजी जाननेवाले पाठकों के मनोविनोदार्थ हम यहाँ देते हैं—

My Fond Sweet Blue-eyed Maid

When widely comes the tempest on,
    When patience with a sigh
The dreadful thunder-storm does shun
    And leave me O' love to die,
I dream and see my bonny maid
    Sudden smiling in my heart,
And Oh! she receives my spirit dead
    And bids the tempest part!
I smile—I'gin to live again
    And wonder that I live,
O' tho flung in an ocean of pain,
    I've moments to cease to grieve!

वंग-कवि माइकेल मधुसूदन दत्त

Dear one ! tho' time shall run his race,
Tho' life decay and fade,
Yet I shall love, nor love thee less,
"My fond sweet Blue-eyed Maid !"

KIDDERPORE
26th March, 1841 } M S D

युवावस्था मे प्रवेश करनेवाले १७ वर्ष के नवयुवक की यह श्रृंगारिक कविता है। इसे मधुसूदन ने एक 'अरविंदलोचनी' को उद्देश करके लिखा है। इसी छोटी अवस्था मे वह उस समय के अँगरेजी-समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं मे भी अपनी कविताएँ प्रकाशित कराते थे। यहाँ तक कि विलायत की पत्रिकाओं तक मे छपने के लिये वह कविता भेजते थे। इस उत्साह को तो देखिए। इस योग्यता को तो देखिए। अँगरेजी मे कविता करने की इस प्रवीणता को तो देखिए। हिंदू-कॉलेज मे, छात्रावस्था मे, मधुसूदन ने लंदन की एक प्रसिद्ध पत्रिका के संपादक को कुछ कविताएँ छपने के लिये भेजी थीं। भेजते समय संपादक को जो पत्र उन्होंने लिखा था, वह पढ़ने योग्य है। अतएव हम उसे यहाँ उद्धृत करते हैं। वह इस प्रकार है—

To

THE EDITOR OF BENTLEY'S MISCELLANY,
London

SIR

It is not without much fear that I send you the

accompanying productions of my juvenile muse, as contribution to your Periodical The magnanimity with which you always encourage aspirants to 'literary fame' induces me to commit myself to you. 'Fame', Sir, is not my object at present, for I am really conscious I do not deserve it, all that I require is encouragement I have a strong conviction that a public like the British—discerning, generous and magnanimous—will not damp the spirit of a poor foreigner I am a Hindu—a native of Bengal—and study English at the Hindu College of Calcutta. I am now in my eighteenth year,—'a child'—to use the language of a poet of your land, Cowley, "in learning but not in age "

CALCUTTA, KIDDERPORE, } *I remain, etc,*
October, 1842

अर्थात् लंदन के 'बैटलेज मिसलेनी' के संपादक महोदय की सेवा मे,

आपकी पत्रिका मे प्रकाशित कराने की नीयत से, बहुत डरता हुआ, मै अपनी लड़क-बुद्धि की उपज—ये रचनाएँ—आपकी सेवा मे भेज रहा हूँ। जिस महामनस्कता के साथ आप सदा साहित्यिक कीर्ति के इच्छुकों को प्रोत्साहित करते

रहते हैं, वही मुझे अपने को आपके सिपुर्द करने के लिये उत्साहित करती है। महाशय, अभी यशःप्राप्ति मेरा उद्देश नहीं है; क्योंकि मै खूब जानता हूँ कि अभी मुझमें उसकी पात्रता नहीं। जो कुछ मै चाहता हूँ, वह प्रोत्साहन है। मुझे दृढ़ विश्वास है कि जनता—ब्रिटिश-जनता, जो कि विवेकशील, उदार और महामनस्क है—एक ग़रीब विदेशी के हौसले को पस्त न करेगी। मैं हिंदू हूँ—बंगाल का निवासी हूँ, और कलकत्ते के हिंदू-कॉलेज में अँगरेज़ी पढ़ता हूँ। अभी मेरा अठारहवाँ वर्ष चल रहा है, और जैसा कि आपके देश के एक कवि, शेली, ने कहा है—'बच्चा हूँ, विद्वत्ता की, न कि अवस्था की दृष्टि से।'

कलकत्ता, खिदिरपुर }
ऑक्टोबर, १८४० } भवदीय—

मधुसूदन की अँगरेज़ी मे अशुद्धियाँ भले हों, उनकी कविता निर्दोष चाहे न हो, परंतु यह सभी स्वीकार करेंगे कि अठारह वर्ष के नवयुवककी अँगरेज़ी में इतनी पारदर्शिता होना आश्चर्य की बात है। आजकल इलाहाबाद के विश्वविद्यालय की सर्वोच्च परीक्षा पास करनेवालों को भी, बहुत प्रयत्न करने और कवित्व-शक्ति का बीज उनके हृदय में विद्यमान होने पर भी, शायद ही मधुसूदन की जैसी अँगरेज़ी-कविता लिखना आवे।

जब से मधुसूदन ने पाठशाला में प्रवेश किया, तब से अंत तक उन्होंने बड़े ही मनोयोग से विद्याध्ययन किया। उनकी बुद्धि और धारणा-शक्ति विलक्षण थी। उनसे अपने सह-

पाठियों का उत्कर्ष कभी सहा न जाता था। क्लास मे वह सबसे श्रेष्ठ रहने का यत्न करते थे, और उनका स्थान प्रायः सदैव ऊँचा ही रहता था। कॉलेज की पुस्तकों के सिवा वह बाहर की पुस्तके भी पढ़ते थे; कविता भी करते थे; लेख भी लिखते थे; साथ ही अपनी विलास-प्रियता के लिये समय भी निकाल लेते थे। ये सब बाते उनकी असाधारण बुद्धि और असाधारण प्रतिभा का परिचय देती है। कवित्व-शक्ति मनुष्य के लिये अति दुर्लभ गुण है। कठिन परिश्रम अथवा देवानुग्रह के विना वह प्राप्त नही होती। किंतु प्रकृति ने यह दुर्लभ शक्ति मधुसूदन को यथेष्ट दी थी। वह जिस समय जो भाषा पढ़ते थे, उस समय उसमे थोड़े ही परिश्रम से कविता कर लेते थे। उनको इस बात का विश्वास था कि वह यादि विलायत जायँ, तो अँगरेज़ी-भाषा के महाकवि हुए विना न रहे। यह बात उन्होंने अपने मित्र गौरदास को एक बार लिखी भी थी; यथा—

"I am reading Tom Moor's life of my favourite Byron A splendid book upon my word Oh! how should I like to see you write my life, if I happen to be a great poet, which I am almost sure, I should be if I can go to England!"

अर्थात् "मै टॉम मूर का लिखा हुआ अपने प्रिय कवि बाइरन का जीवन-चरित पढ़ रहा हूँ। सच कहता हूँ, पुस्तक अपने ढंग की एक ही है। यदि मै इँगलैंड जा सका, तो मुझे

दृढ़ विश्वास है कि मैं भी एक बड़ा भारी कवि हो जाऊँगा, और यदि मैं बड़ा भारी कवि हो सका, तो फिर आपको अपना जीवन-चरित लिखते देख मुझे कितनी प्रसन्नता होगी ! वाह्वा !"

उनकी इच्छा थी कि गौरदास बाबू उनका जीवन-चरित लिखे, परंतु इस इच्छा को एक दूसरे ही सज्जन ने, उनके मरने के बीस वर्ष पीछे, पूर्ण किया। इँगलैंड जाने की अभिलाषा उन्हें लड़कपन ही से थी। यह अभिलाषा सफल भी हुई; परंतु वहाँ जाने से उनको महाकवि का पद न मिला। इसी देश मे रहकर उनको महाकवि की पदवी मिली। यह पदवी अँगरेजी-कविता के कारण नहीं, किंतु बँगला-कविता के कारण मिली। विदेशी भाषा मे कविता करके महाकवि होने की अपेक्षा मातृभाषा ही में इस जगन्मान्य पदवी का पाना विशेष आदर और प्रतिष्ठा की बात है।

सन् १८४३ ईसवी के आरंभ मे, मधुसूदन के जीवन मे, एक ऐसी घटना हुई, जिसके कारण उनको, पीछे से, अनेक आपदाएँ भोगनी पड़ीं। जिस समय वह हिंदू-कॉलेज मे पढ़ते थे, उस समय उनके माता-पिता ने उनका विवाह करना स्थिर किया। उनके लिये जो कन्या चुनी गई, वह बहुत सुस्वरूपा और गुणवती थी। वह एक धन-संपन्न जमींदार की कन्या थी। यह बात जब मधुसूदन को विदित हुई, तब उन्होंने अपनी माता से साफ-साफ कह दिया कि वह विवाह न

करेंगे। परंतु उनकी बात पर किसी ने ध्यान न दिया। उनके पिता, राजनारायण, ने समझा कि लड़के ऐसा कहा ही करते है। जब विवाह के कोई बीस-बाईस दिन रह गए, तब मधुसूदन ने एक बड़ा ही अनुचित काम करना चाहा। उन्होंने क्रिश्चियन-धर्म की दीक्षा लेने का संकल्प दृढ़ किया। यह करके उन्होंने अपने मित्र गौरदास बाबू को लिखा—

"बाबा (पिता) ने हमारा विवाह एक काले पहाड़ के साथ करना स्थिर किया है। परंतु हम किसी प्रकार विवाह न करेंगे। हम ऐसा काम करेंगे, जिससे बाबा को चिरकाल दुःखित होना पड़ेगा।"

इसी समय, अर्थात् २७ नवंबर, १८४२ ईसवी की आधी रात को, खिदिरपुर से उन्होने गौरदास बाबू को एक और पत्र, अँगरेज़ी मे, लिखा। उसमें उन्होंने अपने इँगलैंड जाने का भी संकल्प बड़ी दृढ़ता से स्थिर किया; यथा—

"You know my desire for leaving this country is too firmly rooted to be removed The sun may forget to rise, but I cannot remove it from my heart Depend upon it, in the course of a year or two more. I must either be in E—D or cease "to be" at all,—one of these must be done!"

अर्थात् "सूर्य चाहे उदय होना भूल जायँ, परंतु इस देश को छोड़ने की इच्छा हमारे हृदय से अस्त नही हो सकती।

वर्ष-दो वर्ष मे या तो हम इँगलैंड ही मे होंगे या कहीं भी न होंगे।"

मधुसूदन ने इस दृढ़ संकल्प को पूरा किया; परंतु वर्ष-दो वर्ष मे नहीं, कई वर्षों मे। मधुसूदन को विलायत जाने और एक गौरांग-रमणी का पाणिग्रहण करने की प्रबल इच्छा थी। क्रिश्चियन होने से उन्होंने इस इच्छा का पूर्ण होना सहज समझा। इसलिये अपनी परम स्नेहवती माता और पुत्र-वत्सल पिता का घर सहसा परित्याग करके उन्होंने क्रिश्चियन-धर्मोपदेशकों का आश्रय लिया। उन्होंने मधुसूदन को कुछ दिन फोर्ट विलियम के किले मे बंद रक्खा, जिससे उनसे बातचीत करके कोई उनको अपने संकल्प से विचलित न कर दे। सब बातें पक्की हो जाने पर, १८४३ ईसवी की ६वीं फेब्रुअरी को, उन्होंने अपने विचार की परा काष्ठा करके क्रिश्चियन-धर्म की दीक्षा ले ली। उस समय से वह मधुसूदन दत्त के बदले माइकेल मधुसूदन दत्त हुए। दीक्षा लेते समय उन्होंने अपना ही रचा हुआ यह पद गाया—

I

Long sunk in superstitious nights,
    By sin and Satan driven,—
I saw not,—care not for the light
    That leads the Blind to Heaven

II

I sat in darkness,—Reason's eye
Was shut,—was closed in me
I hasten'd to Eternity
O'er Error's dreadful Seal

III

But now, at length, thy grace, O Lord!
Bids all around me shine
I drink thy sweet—thy precious word,—
I kneel before thy shrine!

IV

I've broke Affection's tenderest ties
For my blessed Savior's sake,
All, all I love beneath the skies,
Lord! I for thee forsake!

अर्थात् "शैतान और पाप की प्रेरणा से मै बहुत दिनों तक मिथ्या अंध-विश्वास के अँधेरे मे टक्करें खाता फिरा। अंधे को स्वर्ग की ओर ले जानेवाले प्रकाश को न तो मैने देखा, और न उसकी परवा की। मेरे विवेक के नेत्र बंद थे। परंतु, अब हे परमेश्वर, तेरी कृपा से अपने चारो ओर मुझे प्रकाश-ही-प्रकाश दिखलाई देता है। मैं तेरे मधुर शब्दों को हृदयंगम करता और तेरे सम्मुख अपना सिर झुकाता हूँ। मैंने प्रेम के कोमल-से-कोमल बंधनों को तोड़ डाला है। पृथ्वी पर जो कुछ मुझे

प्यारा था, उस सभी का, हे प्रभु, तेरे लिये मै त्याग करता हूँ।"

यह कविता यथार्थ ही धार्मिक भावों से पूर्ण है। परंतु हृदय के जो उद्गार उन्होंने इसमें निकाले हैं, वे यदि उनमे स्थायी रहते, तो क्या ही अच्छा होता। उनकी यह धर्म-भीरुता और ईश्वर-प्रीति केवल क्षणिक थी।

क्रिश्चियन होने के अनंतर मधुसूदन ने बिशप्स-कॉलेज मे प्रवेश किया। वहॉ वह कोई चार वर्ष तक रहे। इन चार वर्षों मे उन्होंने भाषा-शिक्षा और कवितानुशीलन मे अधिक उन्नति की। परंतु उनकी विद्या और बुद्धि की उन्नति के साथ-साथ उनकी उच्छृंखलता भी वहॉ बढती गई। हम यह नहीं कह सकते कि क्रिश्चियन होने ही से उनमे दुर्गुणों की अधिकता हो गई, और इसीलिये उनको आगे अनेक आपदाएँ भोग करनी पड़ीं। किसी धर्म की हम निंदा नहीं करते। बात यह है कि मधुसूदन के समान तरल-मति, अपरिणाम-दर्शी और असंयत-चित्त मनुष्य चाहे जिस समाज मे रहे और चाहे जिस धर्म से संबंध रक्खे, वह कभी शांति-पूर्वक जीवन-निर्वाह न कर सकेगा।

मधुसूदन के क्रिश्चियन होने से उनके माता-पिता को अनंत दुःख हुआ। उनकी माता तो जीवित ही मृतक-सी हो गई। उन्होंने भोजन-पान तक बंद कर दिया। इसलिये राजनारायण बाबू मधुसूदन को कभी-कभी अपने घर बुलाने

लगे। उन्हे देखकर उनकी माता को कुछ शांति मिलने लगी, और वह किसी भाँति अन्न-जल ग्रहण करके अपने दिन काटने लगीं। मधुसूदन के धर्म-च्युत होने पर भी उनके माता-पिता ने उनको धन की सहायता देने से मुँह नहीं मोड़ा। वे उन्हें यथेच्छ धन देते रहे, और उसे मधुसूदन पानी के समान उड़ाते रहे। कभी-कभी घर आने पर मधुसूदन और उनके पिता से धर्म-संबंधी वाद-विवाद भी हो जाता था। इस विवाद मे मधुसूदन अनुचित और कटूक्ति-पूर्ण उत्तर देकर पिता को कभी-कभी दुःखित भी कर देते थे। इस कारण सतप्त होकर पिता ने धन से उनकी सहायता करना बंद कर दिया। वि॰ा पैसे के मधुसूदन की दुर्दशा होने लगी। उनके इष्ट-मित्र, अध्यापक और धर्माध्यक्ष, कोई भी उनके दुःखो को दूर न कर स॰॰। कलकत्ते में सब कहीं उनको अंधकार दिखाई देने लगा। उनके मन की कोई भी अभिलापा पूरी न हुई। न वह विलायत ही जा सके और न जिस अँगरेज-रमणी पर वह लुब्ध थे, वही उनको मिली। सब ओर से उनको निराशा ने आ घेरा।

मधुसूदन के साथ बिशप्स-कॉलेज मे मदरास के भी कई विद्यार्थी पढते थे। उनकी सलाह से उन्होंने मदरास जाने का निश्चय किया। कलकत्ता छोड़ जाने ही मे उन्होंने अपना कल्याण समझा, अतएव, १८४८ ईसवी मे, उन्होंने मदरास के लिये प्रस्थान किया। वहाँ जाकर धनाभाव के कारण उनको अपने नूतन धर्म के अवलंबियों से सहायता के लिये प्रार्थना

करनी पड़ी। उन्होंने उनकी सहायता की। मातृपितृहीन दरिद्र क्रिश्चियन-लड़कों के लिये वहाँ एक पाठशाला थी। उसमे मधुसूदन शिक्षक नियत किए गए। इस प्रकार उनका धनाभाव-संबंधी क्लेश कुछ-कुछ दूर हो गया। जब मधुसूदन हिदू-कॉलेज मे थे, तभी से उनको कविता लिखने और उसे समाचार-पत्रों मे छपाने का अनुराग था। मदरास मे यह अनुराग और भी बढ़ा। वहाँ के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पत्रों और पत्रिकाओं मे उनकी कविताएँ प्रकाशित होने लगीं। इससे समाचार-पत्रवाले भी उनकी सहायता करने लगे। मदरास ही से मधुसूदन की गिनती ग्रथकारों मे हुई। उनकी दो अँगरेजी-कविताएँ, जो पहले समाचार-पत्रों मे छपी थीं, यही पहलेपहल पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। इनमे से एक का नाम 'कैपटिव लेडी' (Captive Lady) और दूसरी का नाम 'विजन्स ऑफ् दि पास्ट' (Visions of the Past) है। इन पुस्तको के प्रकाशित होने पर मधुसूदन की गिनती अँगरेजी-कवियो मे होने लगी। केवल मदरास ही के नहीं, किंतु विलायत तक के विद्वानों ने उनकी कविता की प्रशंसा की। परंतु कलकत्ते के किसी-किसी समाचार-पत्र ने उनकी कविता की कड़ी समालोचना की। जैसा उत्साह उनको और-और स्थानों मे मिला, वैसा कलकत्ते से नहीं मिला। कई लोगों ने तो उनकी पुस्तकों की समालोचना करते समय उनकी दिल्लगी भी उड़ाई।

मदरास में मधुसूदन की एक इच्छा पूरी हुई। वहाँ नील

का व्यापार करनेवाले एक साहब की लड़की ने उनसे विवाह किया। परंतु इस विवाह से उन्हे सुख नहीं मिला। विवाह हो जाने पर, कई वर्ष पीछे, उनका संबंध उनकी पत्नी से छूट गया। गृहस्थाश्रम में रहकर जो सहिष्णुता, जो आत्मसंयम और जो स्वार्थ-त्याग आवश्यक होता है, वह मधुसूदन से होना असंभव था। इसीलिये, इतना शीघ्र, पति पत्नी मे विच्छेद हो गया। इसके अनंतर मद्रास के प्रेसीडेसी-कॉलेज के एक अध्यक्ष की लड़की से मधुसूदन का स्नेह हुआ और यथासमय उससे उनका विवाह भी हो गया। यही पत्नी अंत तक उनके सुख-दुःख की हिस्सेदार रही।

मद्रास मे मधुसूदन वहाँ के एकमात्र दैनिक पत्र 'स्पेक्टेटर' (Spectator) के सहकारी संपादक हो गए। पीछे से वहाँ के प्रेसीडेसी-कॉलेज मे उनको शिक्षक का पद मिला। सुलेखकों और सुकवियों में उनका नाम हो गया। सब कहीं उनका आदर होने लगा। परंतु इतना होने पर भी उनको शांति और निश्चितता न मिली। उनका अस्थिर चित्त, अयोग्य व्यवहार और अपरिमित व्यय उनको सदा क्लेशित रखता था। रुपए की उनको सदैव कमी बनी रहती थी।

मधुसूदन को यद्यपि अँगरेजी-भाषा मे बड़ी दक्षता प्राप्त थी, तथापि बँगला मे एक साधारण पत्र तक लिखना न आता था। १८ ऑगस्ट, १८४९ ईसवी को उन्होंने अपने मित्र गौरदास को मद्रास से एक पत्र भेजा। उसमे आप लिखते है—

'As soon as you get this letter, Write off to father to say that I have got a daughter I do not know how to do the thing in Bengali"

अर्थात् "इस पत्र को पाते ही पिता को लिख भेजना कि हमारे एक लड़की हुई है। इस बात को हम बँगला मे लिखना नही जानते।" सो मेघनादवध-महाकाव्य के कर्ता को १८४९ ईसवी मे, अर्थात् कोई २५ वर्ष की उम्र मे, बँगला में पत्र तक लिखना न आता था।

मधुसूदन की वे दोनो पुस्तके, जिनका नाम हमने ऊपर लिखा है, यद्यपि अनेक विद्वानो को पसंद आई, और उनके कारण यद्यपि मधुसूदन का बड़ा नाम हुआ, तथापि कलकत्ते मे कहीं-कहीं उनकी तीव्र समालोचना भी हुई। वे पुस्तके देखकर मधुसूदन के मित्रों ने उनको बँगला मे कविता करने की सलाह दी। उस समय कलकत्ते मे शिक्षा-समिति (Education Council) के सभापति बेथून साहब थे। यह वही बेथून साहब हैं, जिनके नाम का कालेज अब भी कलकत्ते मे वर्तमान है। उन्होंने मधुसूदन को एक पत्र लिखा। उसमे उन्होंने बँगला-महाकाव्य की हीन दशा की समालोचना की, और मधुसूदन को यह सलाह दी कि उनके समान उत्साही कवि को अपनी ही भाषा मे कविता करके उसे उन्नत करना चाहिए। यह शिक्षा किंवा उपदेश मधुसूदन को पसंद आया, और वह मातृभाषा के अनुशीलन के लिये तैयार हुए। उन्होंने

संस्कृत, ग्रीक और लैटिन इत्यादि भाषाएँ सीखना आरंभ कर दिया। यह उन्होंने इसलिये किया, जिसमें उनकी सहायता से वह वंग-भाषा को परिमार्जित कर सकें। यह बात उन्होंने अपने एक पत्र में, जो उन्होंने गौरदास बाबू को लिखा था, स्पष्ट स्वीकार की है। उन्होंने अपनी उस समय की दिनचर्या इस प्रकार रक्खी थी—

६ से ८ बजे तक हेब्रू
८ से १२ बजे तक स्कूल
१२ से २ बजे तक ग्रीक
२ से ५ बजे तक तेलगू और संस्कृत
५ से ७ बजे तक लैटिन
७ से १० बजे तक अँगरेजी

भोजन शायद वह स्कूल ही मे करते थे; क्योंकि उसके लिये उन्होंने कोई समय नही रक्खा। दिन-रात मे १२ घंटे अध्ययन, ४ घंटे स्कूल और ८ घंटे विश्राम! ऐसा कठिन अध्ययन तो स्कूल के लडकों मे भी कोई बिरला ही करता होगा।

मधुसूदन के मद्रास जाने के ३ वर्ष पीछे उनकी माता का परलोक-गमन हुआ और ७ वर्ष पीछे पिता का। पिता के मरने पर मधुसूदन की पैत्रिक संपत्ति उनके आत्मीयों ने अपने अधिकार मे कर ली। यह संपत्ति मधुसूदन के कलकत्ते लौट आने और न्यायालय मे कई अभियोग चलाने पर उनको

मिली। उनके माता-पिता की मृत्यु और उनकी स्थावर-जंगम संपत्ति की अवस्था का समाचार गौरदास बाबू ने उनको लिख भेजा। अतः मधुसूदन महाशय, महाशय क्यों साहब, कोई ८ वर्ष मद्रास में रहकर, १८५६ ई० की जनवरी मे, कलकत्ते लौट आए।

कलकत्ते लौट आने पर, थोड़े ही दिनो मे, उनको श्रीहर्ष-रचित रत्नावली नाटक का अनुवाद अँगरेजी में करना पड़ा। उस समय कलकत्ते के सभ्य-समाज को पहले-ही-पहल नाटक देखने का चाव हुआ। इसलिये पाइकपाड़ा के राजा प्रताप-चंद्रसिंह और ईश्वरचंद्रसिंह ने बेलगाछिया में एक नाट्य-शाला बनवाई। उसमे खेलने के लिये, इन दोनो राजों की आज्ञा से, पंडित रामनारायण ने रत्नावली का बँगला-अनुवाद किया। परंतु यह समझकर कि बँगला मे खेल होने से अँगरेज-दर्शकों को बहुत ही कम आनंद मिलेगा, उन्होंने इस नाटक का अनुवाद अँगरेजी मे किए जाने की इच्छा प्रकट की। उस समय के सभ्य-समाज मे गौरदास बाबू भी थे। उनकी सलाह से यह काम मधुसूदन को दिया गया। मधुसूदन ने इस काम को बड़ी योग्यता से किया। थोड़े ही दिनों मे उन्होंने रत्नावली का अँगरेजी-अनुवाद समाप्त करके उसे पूर्वोक्त राजयुग्म को दिखलाया। उन्होंने तथा महाराजा यतींद्रमोहन ठाकुर आदि और भी कृतविद्य लोगो ने उसे बहुत पसंद किया। पूर्वोक्त राजों ने उसे अपने व्यय से छपाया,

और मधुसूदन को, उनके परिश्रम के वदले, ५००) का पुरस्कार दिया।

इस प्रकार सब तैयारी हो चुकने पर, १८५८ ईसवी की ३१ जुलाई को, बेलगाछिया की नाट्यशाला मे रत्नावली का खेल हुआ। खेल के समय और-और धनी-मानी अधिकारी तथा राजपुरुषो के सिवा बंगाल के छोटे लाट भी उपस्थित थे। नाटक का अभिनय बहुत ही उत्तम हुआ। वह इतना सुंदर और हृदयग्राही हुआ कि उसका वर्णन नही हो सकता। उसे देखकर सब सामाजिक मोहित हो गए। तब से मधुसूदन की प्रतिष्ठा का कलकत्ते मे सूत्रपात हुआ। वह प्रसिद्ध कवि और प्रसिद्ध नाटककार गिने जाने लगे।

एक बार मधुसूदन के मित्रों ने यह कहा कि बँगला मे कोई समयानुकूल अच्छा नाटक नही है; यदि होता, तो रत्नावली के खेलने की आवश्यकता न थी। इस पर मधुसूदन ने एक बँगला-नाटक लिखने की इच्छा प्रदर्शित की, जिसे सुनकर सबको आश्चर्य और कुतूहल, दोनो, हुए। यह वे जानते थे कि बँगला मे एक पत्र लिखते जिसका सिर दर्द करने लगता था, वह कहाँ तक बँगला-नाटक लिखने मे समर्थ होगा। परंतु, उस समय, उन्होंने इतना ही कहा कि "प्रयत्न कीजिए।" मधुसूदन ने जान लिया कि उनके मित्रों को इस बात का विश्वास नही है कि वह बँगला मे नाटक लिख सकेंगे। अतएव उनके संशय को निवृत्त करने के लिये वह चुपचाप

'शर्मिष्ठा-नाटक' नाम की एक पुस्तक लिखने लगे। इस पुस्तक को उन्होंने थोड़े ही दिनों में समाप्त करके अपने मित्रों को दिखलाया। उसे देखकर सब चकित हो गए। जो मधुसूदन 'पृथ्वी' को 'प्रथिवी' लिखते थे, उनके इस रचना-कौशल को देखकर सबने दाँतों-तले उँगली दबाई। 'शर्मिष्ठा-नाटक' में पंडित रामनारायण इत्यादि प्राचीन नाटक-प्रणाली के अनुयायियों ने अनेक दोष दिखलाए। उन्होंने उसे नाटक ही में न गिना। परंतु नवीन प्रथावालों ने उसे बहुत पसंद किया। पाइकपाड़ा के राजयुग्म और महाराजा यतींद्रमोहन ने उसे अभिनय के लिये बहुत ही उपयुक्त समझा। महाराजा यतींद्रमोहन ने तो उसमें अभिनय के समय गाने के लिये कई गीत स्वयं बनाए। पाइकपाड़ा के दोनो राजपुरुष ने उसे भी अपने व्यय से छपाया, और इस बार भी मधुसूदन को योग्य पुरस्कार दिया। सन १८५८ ईसवी में शर्मिष्ठा-नाटक प्रकाशित हुआ, और १८५९ के सेप्टेंबर में वह बेलगाछिया की नाट्य-शाला में खेला गया। उसका भी अभिनय देखकर दर्शक-वृंद मोहित हुए, और उन्होंने मधुसूदन की सहस्र मुख से प्रशंसा की।

मधुसूदन की शर्मिष्ठा पंडित रामनारायण के पास समालोचना के लिये भेजी गई थी। रामनारायण ने उसमें बहुत कुछ फेर-फार करना चाहा। इस विषय में मधुसूदन गौरदास बाबू को लिखते हैं—

"यदि दो-चार फेर-फार किए जायँ, तो कोई चिंता नहीं; परंतु हमारे सभी वाक्यों को नए सिरे से लिखना! कदापि नहीं। ऐसा होने देने की अपेक्षा हम उसे जला देना ही अच्छा समझते है।"

मधुसूदन के समान उद्दंड और स्वतंत्र स्वभाववाले को दूसरे की की हुई काट-छाँट भला कब पसंद आने लगी।

मधुसूदन का दूसरा नाटक 'पद्मावती' है। यह नाटक उन्होंने ग्रीक लोगों के पौराणिक इतिहास के आधार पर लिखा है। घटना-वैचित्र्य मे शर्मिष्ठा की अपेक्षा पद्मावती श्रेष्ठ है; परंतु नाटकीय चरित्र-चित्रण के संबंध मे शर्मिष्ठा की अपेक्षा इसमे मधुसूदन अधिकतर निपुणता दिखाने मे कृत-कार्य नहीं हुए। पद्मावती ही मे पहलेपहल उन्होंने अमित्राक्षर-छंदों का प्रयोग किया।

पाइकपाड़ा के राजा प्रतापचंद्र और ईश्वरचद्र जिस प्रकार मधुसूदन के गुणों पर मोहित थे, उसी प्रकार महाराजा यतींद्र-मोहन ठाकुर भी मोहित थे। इन तीनो सत्पुरुषों ने मधुसूदन को अनेक प्रकार से साहाय्य और उत्साह दिया। एक दिन महाराजा यतींद्रमोहन और मधुसूदन मे, परस्पर, इस प्रकार, साहित्य-संबंधिनी बातचीत हुई—

मधुसूदन—"जब तक बँगला मे अमित्राक्षर-छंदों का प्रयोग न होगा, तब तक काव्य और नाटक-ग्रंथों की विशेष उन्नति न होगी।"

महाराजा—"बँगला की जैसी अवस्था है, उसे देखते उसमे ऐसे छंदों के होने की बहुत कम संभावना है।"

मधुसूदन—"हमारा मत आपके मत से नहीं मिलता। चेष्टा करने से हमारी भाषा मे भी अमित्राक्षर-छंद लिखे जा सकते है।"

महाराजा—"फ्रेंच-भाषा बँगला की अपेक्षा अधिक उन्नत है। उसमे भी जब छद ऐसे नहीं हैं, तब बँगला मे उनका होना प्रायः असंभव है।"

मधुसूदन—"यह सत्य है; परतु बँगला-भाषा संस्कृत से उत्पन्न हुई है। संस्कृत मे जब अमित्राक्षर छंद है, तब वे बँगला मे भी हो सकते हैं।"

इस प्रकार कुछ देर तक वाद-प्रतिवाद हुआ। अंत मे मधुसूदन ने कहा—"यदि हम स्वयं एक ग्रथ अमित्राक्षर-छदों मे लिखकर आपको दिखावे, तो आप क्या करेगे?" इस पर महाराजा ने उत्तर दिया—"यदि ऐसा होगा, तो हम पराजय स्वीकार करेगे, और अमित्राक्षर-छदों मे रचित ग्रंथ को अपने व्यय से छपा देगे।" यह बात मधुसूदन ने स्वीकार की, और वह अपने घर गए।

मधुसूदन ने अपने पद्मावती नाटक मे ऐसे छदों का व्यवहार किया ही था। अब वह ऐसे छंदों मे एक स्वतत्र ग्रंथ लिखने लगे। उसका नाम उन्होंने तिलोत्तमा-सभव-काव्य' रक्खा। थोड़े ही दिनों मे मधुसूदन ने उसे समाप्त करके

महाराजा यतींद्रमोहन ठाकुर, डॉक्टर राजेंद्रलाल मित्र और बाबू राजनारायण वसु आदि को दिखलाया। देखते ही सब लोग चकित हो गए; मधुसूदन को सहर्ष धन्यवाद देने लगे; और सबने एक-वाक्य से स्वीकार किया कि इस काव्य में अमित्राक्षर-छंदों की योजना करके मधुसूदन पूर्ण रीति से कृतकार्य हुए हैं। महाराजा यतींद्रमोहन ने अपने वचन का पालन किया, और १८६० ईसवी के मई महीने में तिलोत्तमा-संभव को अपने व्यय से प्रकाशित कराया। इस काव्य को मधुसूदन ने महाराजा यतींद्रमोहन ही को अर्पण किया। अर्पण करने के समय का एक फोटो (चित्र) भी लिया गया। मधुसूदन के हाथ का लिखा हुआ यह काव्य अब तक महाराजा के पुस्तकालय में सुरक्षित है। इसी समय से मधुसूदन द्वारा बँगला में एक नवीन छंद का प्रचार हुआ। इसी समय से बँगला-भाषा का कविता-स्रोत एक नवीन मार्ग से प्रवाहित होने लगा।

तिलोत्तमा-संभव-काव्य सुंद-उपसुंद के पौराणिक आख्यान का अवलंबन करके रचा गया है। उसके कुछ अंश का अनुवाद मधुसूदन ने अँगरेज़ी में भी किया है। किसी नई बात को होते देखकर लोग प्रायः कुचेष्टाएँ करने लगते और भाँति-भाँति से भली-बुरी उक्तियों द्वारा अपने मन की मलिनता प्रकट करते हैं। मधुसूदन भी इससे नहीं बचे। अमित्राक्षर-छंदोबद्ध तिलोत्तमा-संभव के प्रकाशित होने पर उनको अनेक कटूक्तियाँ

सुननी पड़ी। लोगों ने उन पर हास्य-रसमयी कविताएँ तक बनाईं। परंतु मधुसूदन ने इन नीच अंतःकरणवालों की ओर भ्रूक्षेप तक न किया। उनके काव्य की डॉक्टर राजेंद्र-लाल मित्र और बाबू राजनारायण वसु आदि ने बहुत प्रशंसा की, जिसे पढ़कर अनेक रसिक जनों का चित्त उसकी ओर आकृष्ट हो गया।

शर्मिष्ठा-नाटक की रचना के अनंतर और तिलोत्तमा-संभव के प्रकाशित होने के पहले मधुसूदन ने दो प्रहसन भी लिखे। उनकी रचना उन्होंने १८५९ और १८६० ईसवी में की। इन प्रहसनों में एक का नाम 'एकेई कि बले सभ्यता ?' (क्या इसी को सभ्यता कहते हैं ?) और दूसरे का 'बूड़ो शालिकेर घाडे रोंया' (बुड्ढे शालिक-पक्षी * की गर्दन में रोएँ) है। पहले में एक धनी वैष्णव के अँगरेजी-शिक्षित पुत्र की उपहासास्पद सभ्यता का वर्णन है, और दूसरे में भक्तप्रसाद-नामक एक तिलक-मालाधारी वक-धार्मिक वृद्ध का एक मुसलमान-तरुणी पर अनुराग और तज्जनित उसका उपहास वर्णन किया गया है।

इन दोनों प्रहसनों का अनुवाद हिंदी में हो गया है। मधुसूदन के दो नाटकों का भी अनुवाद हिंदी में हुआ है। उनकी और पुस्तकों का भी चाहे अनुवाद हुआ हो, परंतु हमने इन्हीं को देखा है। जिन नाटकों का अनुवाद हमने

* शालिक = गलगल, गलगलिया, गलार।

देखा है, उनके नाम हैं 'कृष्णकुमारी' और 'पद्मावती'। कृष्ण-कुमारी के विषय मे हम आगे चलकर कुछ और लिखेंगे। पद्मावती का उल्लेख पहले ही हो चुका है। इन नाटकों और प्रहसनों के अनुवाद बनारस के भारत-जीवन-प्रेस मे छपे है। कृष्णकुमारी के अनुवादक ने पुस्तक के नाम-निर्देश-पत्र (Title Page) पर मधुसूदन का नाम नहीं दिया। केवल इतना ही लिखा है कि "वंग-भाषा से शुद्ध आर्य-भाषा मे अनुवाद"। परंतु, भीतर, भूमिका और नाटक की प्रस्तावना मे, मधुसूदन का नाम दे दिया गया है। पद्मावती-नाटक के अनुवादक वही है, जो कृष्णकुमारी के; परंतु पद्मावती की प्रस्तावना में मधुसूदन का नाम उन्होंने नही लिखा और न टाइटिल-पेज ही पर लिखा। टाइटिल-पेज पर वही पूर्वोक्त वाक्य है— "वंग-भाषा से शुद्ध आर्य-भाषा में अनुवाद"। कृष्णकुमारी का दूसरा अनुवाद गंगा-पुस्तकमाला से भी निकला है। यह बात नाटकों के अनुवाद की हुई।

'क्या इसी को सभ्यता कहते है ?' इस नाम के प्रहसन मे भी पद्मावती-नाटक के समान मधुसूदन का कहीं भी नाम नहीं। उसके नाम-निर्देश पत्र पर अनुवादक महाशय ने केवल "वंग-भाषा से अनुवाद किया" इतना ही लिखा है। पात्रों के नाम जो मूल-बँगला-पुस्तक मे है, वे ही उन्होंने अनुवाद में भी रक्खे हैं। 'बुड्ढे शालिक की गर्दन मे रोएँ'-नामक प्रहसन के अनुवाद मे विशेषता है। उसका नाम रक्खा गया है 'बूढ़े

मुँह मुहासे लोग देखै तमासे'। इस अनुवाद मे न कहीं मधुसूदन ही का नाम है और न कहीं यही लिखा है कि वह बँगला से अनुवादित हुआ है। नाम-निर्देश-पत्र पर उलटा यह लिखा है कि अमुक-अमुक की "हास्यमयी लेखनी से लिखित"। इसमें मूल-पुस्तक के पात्रों के नाम भी बदल दिए गए हैं। भक्तप्रसाद के स्थान मे नारायणदास, हनीफ गाज़ी के स्थान मे मौला, गदाधर के स्थान मे कज़ुआ आदि इस प्रांत के अनुकूल नाम रक्खे गए हैं। जान पड़ता है, ये सब बातें भूल अथवा भ्रम से हुई है; क्योंकि जिनको सब लोग हिंदी-लेखकों का आचार्य समझते हैं, और दूसरों को धर्मोपदेश देना ही जिनके घर का वनिज है, वह जान-बूझकर दूसरे की वस्तु को कदापि अपनी न कहेगे।

१८६१ ईसवी के लगभग मधुसूदन ने चार ग्रंथ लिखे—'मेघनाद-वध', 'कृष्णकुमारी', 'व्रजांगना' और 'वीरांगना'। इस समय मधुसूदन की प्रतिभा का पूर्ण विकास समझना चाहिए। भाषा का लालित्य, भाव का उत्कर्ष और गांभीर्य तथा ग्रंथ-गत चरित्र-समूह की पूर्णता आदि गुणों का विचार करने पर यही कहना पड़ता है कि मधुसूदन के लिखे हुए इसी समय के ग्रंथ उनकी ग्रंथावली मे सबसे श्रेष्ठ हैं। व्रजागना, कृष्ण-कुमारी और मेघनाद-वध, ये तीनो ग्रंथ मधुसूदन ने प्रायः एक ही साथ आरंभ किए और प्रायः एक ही साथ समाप्त भी किए।

मधुसूदन के ग्रंथों मे मेघनाद-वध सबसे श्रेष्ठ है। यह काव्य

रामायण की पौराणिक कथा के आधार पर लिखा गया है। इसमे वीर-केसरी मेघनाद की मृत्यु का प्रतिपादन है। इस काव्य के राक्षस प्राचीन राक्षसों-जैसे नहीं ; वे हमारे ही समान मनुष्य हैं। भेद इतना ही है कि मनुष्यों की अपेक्षा वीरत्व, गौरव, ऐश्वर्य और शारीरिक बल आदि मे वे कुछ अधिक हैं। मेघनाद-वध के कपि भो लंबी-लंबी पूँछों और बड़े-बड़े बालों-वाले पशु नही ; वे भी साधारण मनुष्य ही हैं। राम और सीता भी ईश्वरावतार नहीं ; वे भी साधारण नर-नारियों के समान सुख-दुःख-भोगी और कर्मानुसार फल-भोग करनेवाले कल्पित किए गए है। उनमे और मनुष्य मे इतना ही अंतर रक्खा गया है कि वे अपने तपोबल से देवतों को प्रत्यक्ष कर सकते थे।

मेघनाद-वध मे मधुसूदन ने अपनी कविता-शक्ति की चरम सीमा दिखलाई है। उसमे उन्होंने अमित्राक्षर-छंदो की योजना की है। उस काव्य मे सब ६ सर्ग हैं ; और उनमे तीन दिनो और दो रातों की घटनाओं का वर्णन है। वह वीर-रस-प्रधान काव्य है। उसकी कविता मे कहीं-कही वीर-रस का इतना उत्कर्ष हुआ है कि पढ़ते-पढ़ते भीरुओं के भी मन मे उस रस का संचार हो आता है। ऐसी विलक्षण रचना, ऐसा उद्भुत भाव, ऐसा रस-परिपाक शायद ही और किसी अर्वाचीन काव्य मे हुआ हो। इस काव्य मे मेघनाद की पत्नी प्रमिला का चरित्र बड़ा ही मनोहर है। मधुसूदन

के कल्पना-कानन का वह सर्वोत्कृष्ट कुसुम है। प्रमिला की कुल-वधूचित कोमलता, पति के लिये उसका आत्मत्याग और वीर-नारी को शोभा देनेवाला उसका शौर्य अप्रतिम रीति से चित्रित किया गया है। इस काव्य के नवम सर्ग मे मधुसूदन ने करुण-रस की भी परा काष्ठा दिखाई है। जिस प्रकार उनके वीर-रसात्मक वर्णन पढ़ते समय पढ़नेवाले की भुजाएँ फड़कने लगती हैं, उसी प्रकार उनकी करुण-रसात्मक उक्तियाँ पढ़ते समय आँसू निकलने लगते हैं। अशोक-वन मे बैठी हुई मूर्तिमती विरह-व्यथा-रूपिणी जानकी का और श्मशान शय्या के ऊपर स्वामी के पैरों के पास बैठी हुई नवीन विधवा प्रमिला का चित्र देखकर कौन ऐसा पाषाण-हृदय होगा, जिसके नेत्रों से अश्रु-धारा न निकलने लगे। बाबू रमेशचंद्र दत्त ने इस काव्य के संबंध मे मधुसूदन की जा प्रशंसा की है, वह यथार्थ है। वह कहते हैं—

"The reader, who can feel and appreciate the Sublime, will rise from a study of this great work with mixed sensation of veneration and awe, with which few poets can inspire him, and will candidly pronounce the bold author to be indeed a genius of a very high order, second only to the highest and greatest that have ever lived, like Vyas, Valmiki or Kalidas, Homer, Dante or Shakespeare"

Literature of Bengal, Page 196

रमेश बाबू की राय है कि स्वदेशियों मे व्यास, वाल्मीकि अथवा कालिदास और विदेशियों मे होमर, दांते अथवा शेक्सपियर ही के समान विख्यात ग्रंथकारों का स्थान मधुसूदन से ऊँचा है, अर्थात् और कवि उनकी बराबरी नहीं कर सकते, वे सब उनके नीचे हैं। उचित था कि हम यहाँ मेघनाद-वध के दो-चार उत्तमोत्तम स्थलों की कविता के नमूने उद्धृत करते; परन्तु ऐसा करना प्रायः निष्फल होगा; क्योंकि हिंदी-भाषा-भाषी प्रांतो मे अँगरेज़ी जाननेवाले तो बहुत होंगे, पर बँगला जाननेवाले बहुत ही कम। इसीलिये हमने ऐसा नही किया।

ससार का नियम है कि प्रायः कोई भी वस्तु निर्दोष नहीं। सबमे कोई-न-कोई दोष होता ही है। कालिदास ने कुमार-संभव मे ठीक ही कहा है—

"प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणाना
पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः।"

अर्थात् "गुणों की सपूर्णता प्रायः कही नहीं पाई जाती।"

मेघनाद-वध भी निर्दोष नहीं। उसमे यह दोष है कि रामचंद्र और लक्ष्मण के चरित की अपेक्षा मेघनाद के चरित का अधिक उत्कर्ष वर्णन किया गया है। राम और लक्ष्मण के कथन और कार्य मे कहीं-कहीं भीरुता तक का उदाहरण पाया जाता है। मधुसूदन ने आर्यवंशियों की अपेक्षा अनार्य राक्षसों का कई स्थलों मे पक्षपात किया है; उनके साथ उन्होंने अधिक

सहानुभूति दिखलाई है। संभव है, आजकल के समय का विचार करके उन्होंने बुद्धिपुरःसर ऐसा किया हो।

प्रकाशित होते ही मेघनाद-वध का व ग-देश मे बड़ा आदर हुआ। बाबू कालीप्रसन्न सिह, राजा प्रतापचंद्र, राजा ईश्वरचंद्र, राजा दिगंबर मित्र, महाराजा यतींद्रमोहन आदि ने मिलकर मधुसूदन का अभिमंदन करने के लिये उनकी अभ्यर्थना की। नियत समय पर एक सभा हुई, जिसमे मधुसूदन को एक अभिनंदन-पत्र और एक चाँदी का मूल्यवान् पात्र उपहार दिया गया। अभी तक मधुसूदन का प्रकाश्य रूप मे सम्मान न हुआ था, परतु आज वह भी उन्हें प्राप्त हो गया।

मेघनाद-वध को पहली आवृत्ति एक ही वर्ष मे बिक गई। उसे लोगो ने इतना पसंद किया कि शीघ्र ही उसकी दूसरी आवृत्ति निकालनी पड़ी। उस आवृत्ति मे कविवर बाबू हेमचंद्र व ंद्योपाध्याय ने एक सुदीर्घ समालोचना लिखकर ग्रंथ के साथ प्रकाशित की। उसके अतिरिक्त बाबू राजनारायण वसु और डॉक्टर राजेंद्रलाल मित्र आदि ने भी उसकी समालोचना समाचार-पत्रों मे प्रकाशित करके मधुसूदन का बहुत कुछ गौरव किया। इस कारण मधुसूदन, उस समय से, बॅगला के परम प्रतिष्ठित कवि हुए।

मधुसूदन का व्रजांगना-काव्य श्रृ ंगार-रस-प्रधान है। उसमें १८ कविताएँ हैं। उन कविताओं मे प्रायः राधिका का विरह-वर्णन है। कृष्णकुमारी-नाटक की कथा मधुसूदन ने टॉड

साहब के राजस्थान से ली है। उसमे कवि की शोकोद्दीपक शक्ति का अच्छा परिचय मिलता है। वह बँगला-भाषा मे पहला विषादांत नाटक है। संस्कृत के नाट्याचार्यों ने इस प्रकार के नाटक की रचना का निषेध किया है। परतु मधुसूदन किसी विधि-निषेध के अनुसार चलनेवाले कवि न थे। और, कोई कारण भी नहीं कि विषादांत नाटक क्यों न हों? यदि प्रकृति-विशेष का चित्र दिखलाना ही नाटक का मुख्य उद्देश है, तो उसका अंत सुख मे भी हो सकता है और दुःख मे भी। बुरी प्रकृतिवालों को अत मे अवश्य ही दुःख मिलता है। अतएव नाटकों की रचना विषादांत भी हो सकती है।

मदरास से कलकत्ते लौट आने पर मधुसूदन पुलिस की कचहरी मे एक पद पर नियुक्त हो गए थे। वहीं वह अब तक बराबर काम करते थे। उनके परिवार मे कोई लिखने योग्य घटना नहीं हुई। उनकी दूसरी स्त्री से उनके एक पुत्र था और एक कन्या। राजकार्य से, पुस्तकों की प्राप्ति से और उनकी पैत्रिक संपत्ति से जो कुछ अर्थागम होता था, उससे एक मध्यवित्त गृहस्थ के समान उनके दिन व्यतीत होते थे। इस समय वह बँगला-भाषा के अद्वितीय लेखक समझे जाते थे। यद्यपि पारिवारिक जीवन सुख से बिताने के लिये उनको किसी बात का अभाव न था; परंतु फिर भी, अभाग्य-वश, वह सुखी न थे। सुख सांसारिक सामग्री पर अवलंबित नहीं रहता। वह मन और आत्मसंयम ही पर विशेष करके

अवलंबित रहता है। परंतु मन को संयत करना—उसे अपने अधीन रखना—मधुसूदन जानते ही न थे। अतएव मन की उच्छृंखलता के कारण धन, जन और यश इत्यादि किसी बात ने उनको आनंदित न किया। उनका जीवन अशांति ही मे बीतता रहा। उनकी 'आत्मविलाप'-नामक कविता इस बात की गवाही देती है कि उनका जीवन गंभीर यंत्रणाओं मे पड़कर चक्कर खाता रहता था। ग्रंथ-रचना मे लगे रहने से मधुसूदन को उनकी मर्म-कृंतक व्यथाएँ कम सताती थीं।

'वीरांगना'-काव्य को यद्यपि मधुसूदन ने मेघनाद-वध इत्यादि पहले के तीन ग्रंथों के साथ ही लिखना आरंभ किया था, तथापि उसकी समाप्ति उन्होंने १८६२ ईसवी मे की। 'वीरांगना' गीति-काव्य है। प्रसिद्ध रोमन कवि ओविद (Ovid)-रचित वीरपत्रावली (Heroic Epistles) को आदर्श मानकर मधुसूदन ने यह काव्य लिखा है। उसमे प्रसिद्ध पौराणिक महिलाओं के पत्र हैं। अर्थात् वह मधुसूदन की पत्राकार काव्य-रचना है। उसमे इतने पत्र अथवा विषय हैं—

(१)—दुष्यंत के प्रति शकुंतला
(२)—चंद्र के प्रति तारा
(३)—कृष्ण के प्रति रुक्मिणी
(४)—दशरथ के प्रति कैकेयी
(५)—लक्ष्मण के प्रति शूर्पणखा

(६)—अर्जुन के प्रति द्रौपदी

(७)—दुर्योधन के प्रति भानुमती

(८)—जयद्रथ के प्रति दुःशला

(९)—शंतनु के प्रति जाह्नवी

(१०)—पुरूरवा के प्रति उर्वशी।

(११)—नीलध्वज के प्रति जना।

ये ही इस काव्य के ११ सर्ग हैं। इनमे से कोई सर्ग प्रेम-पत्रिकामय है, कोई प्रत्याख्यान-पत्रिकामय है, कोई स्मरणार्थ-पत्रिकामय है, और कोई अनुयोगपत्रिकामय है। इस पुस्तक मे तारा और शूर्पणखा आदि की प्रेम-भिक्षा जैसी हृदय-द्रावक है, जानकी की प्रत्याख्यानपत्रिका भी वैसी ही कठोर है। 'वीरांगना' मे भी मधुसूदन की प्रतिभा का पूर्ण विकास देखा जाता है। यह काव्य भी उनके उत्कृष्ट ग्रंथों मे है। परंतु इसके आगे मधुसूदन की प्रतिभा का ह्रास आरंभ हुआ। इसके बाद वह कोई अच्छा ग्रंथ लिखने मे समर्थ नहीं हुए। बाबू राज-नारायण वसु के अनुरोध से मधुसूदन सिंहलविजय-नामक एक और काव्य लिखने लगे थे, परंतु उसका आरंभ ही करके वह रह गए।

अपने मित्रों की सलाह से मधुसूदन ने पहले ही से क़ानून की किताबें देखना आरंभ कर दिया था। अब, अर्थात् जून १८६२ ईसवी मे, उन्होंने बैरिस्टर होने की इच्छा से विलायत जाना निश्चय किया। एक विश्वस्त पुरुष को उन्होंने अपनी

पैत्रिक संपत्ति का प्रबंधकर्ता नियत किया। उससे उन्होंने यह स्थिर कर लिया कि कुछ रुपए वह प्रतिमास उनकी पत्नी को दे और कुछ उनके खर्च के लिये विलायत भेजे। यह सब प्रबंध ठीक करके, ६ जून १८६२ ईसवी को, उन्होंने कलकत्ते से प्रस्थान किया। चलने के पहले, ४ जून को, उन्होने अपने मित्र राजनारायण बाबू को एक पत्र लिखा। इस पत्र मे उन्होंने यह वचन दिया कि विलायत जाकर भी वह अपनी स्वदेशी कविता को न भूलेगे; और चलते-चलते, पत्र के साथ ही, उन्होंने एक कविता भी भेजी। यह कविता उन्होंने अँगरेजी-कवि लॉर्ड बाइरन की "My Native Land Good-Night!" इस पंक्ति को सूत्र मानकर रची। इसका नाम है 'वंग-भूमि के प्रति'। यह बहुत ही ललित और हृदय-ग्राहिणी कविता है। यह लिखकर, पत्र को समाप्त करने के पहले, राजनारायण बाबू को मधुसूदन लिखते हैं—

Here you are, old Raj !—All that I can say is—

"मधुहीन करो ना गो तव मनः कोदनद।"

Praying God to bless you and yours and wishing you all success in life.

I remain,

Ever your affectionate friend,

MICHAL M S DUTTA

इस अवतरण मे बँगला की जो एक उक्ति उद्धृत है, वह

बहुत ही मनोरम और सामयिक है। उसके द्वारा मधुसूदन अपने मित्र राजनारायण से कहते हैं कि अपने मनोरूपी कमल मे मधु की हीनता न होने देना ; अथवा अपने मनोमय कमल को मधु-हीन न करना। इस उक्ति मे 'मधु'-शब्द के दो अर्थ है। मधुपुष्परस तथा मधुसूदन के नाम का पूर्वार्द्ध। इसके द्वारा मधुसूदन ने राजनारायण से यह प्रार्थना की कि "तुम हमे भूल मत जाना।"

१८६२ ईसवी के जुलाई-महीने के अंत मे मधुसूदन इंगलैंड मे उपस्थित हुए, और वैरिस्टरी का व्यवसाय सीखने के लिये 'ग्रेज इन'(Grey's Inn)-नामक संस्था मे उन्होंने प्रवेश किया। जिस व्यवसाय मे वह प्रवृत्त हुए, वह उनके योग्य न था। उसमे उनका आंतरिक अनुराग न था। विना अनुराग किसी काम मे प्रवृत्त होने से जो फल होता है, वही फल मधुसूदन को भी मिला। किसी प्रकार बैरिस्टर होकर, दो वर्ष के स्थान मे चार-पाँच वर्ष विलायत मे रहकर, वह कलकत्ते लौट आए। परंतु वैरिस्टरी के व्यवसाय मे उनको सफलता न हुई। विलायत जाने मे मधुसूदन का एक और उद्देश यह था कि वहाँ कुछ काल रहकर वह विदेशी भाषाएँ सीखें। यह उद्देश उनका बहुत कुछ सफल हुआ। अँगरेजी तो उनकी मातृभाषा के समान हो गई थी। उसके अतिरिक्त उन्होंने जर्मन, फ्रेंच, इटालियन, लैटिन, ग्रीक और पोर्चुगीज भाषाओं मे विशेष विज्ञता प्राप्त की। उनमे वह विना किसी

क्लेश के बातचीत करने और पत्र आदि लिख सकने लगे। फ्रेंच और इटालियन मे तो वह कविता तक करने लगे। इन छ भाषाओ के सिवा संस्कृत, फारसी, हेब्रू, तामिल, तेलगू और हिंदी का भी उनको अल्पाधिक ज्ञान था। बँगला तो उनकी मातृभाषा ही थी। इस प्रकार इँगलैंड जाने से उनकी बहु-भाषा-विज्ञता बढ़ गई। अनेक विदेशी भाषाओं मे उन्होंने लिखने-पढ़ने की योग्यता प्राप्त कर ली। इस देश के विद्वानों मे, जहाँ तक हम जानते हैं, किसी दूसरे ने इतनी भाषाएँ नहीं सीखीं।

इँगलैंड जाने से उनका भाषा-ज्ञान अवश्य बढ़ गया, परंतु उसके साथ ही उनकी आपदाएँ भी बढ़ गईं। उनके ग्रंथों के समान उनके जीवन को भी एक विषादांत काव्य समझना चाहिए। कलकत्ते मे, मदरास मे, विलायत मे, सब कहीं, उनको दुःख और परिताप के सिवा सुख और समाधान नहीं मिले।

मधुसूदन का इँगलैंड जाना ही उनकी भावी आपत्तियों का मूल कारण हुआ। जिन लोगों पर उन्होंने अपनी संपत्ति के प्रबंध आदि का भार अर्पण किया था, वे महीने ही दो महीने मे अपने कर्तव्य-पालन से पराङ्मुख हो गए। न उन्होंने मधुसूदन ही को कुछ भेजा और न उनके कुटुंब के पालन के लिये उनकी स्त्री ही को कुछ दिया। अतएव उनकी स्त्री की बुरी दशा होने लगी। निरन्न रहने तक की उसे

नौबत आ गई। जब उसने पेट पालने का और कोई उपाय न देखा, तब लाचार होकर वह भी मधुसूदन के पास इँगलैंड जाने के लिये तैयार हुई। किसी प्रकार मार्ग के खर्च का प्रबंध करके, अपने पुत्र और अपनी कन्या को लेकर, मधुसूदन के जाने के एक वर्ष पीछे, वह भी उन्हीं की अनुगामिनी हुई। वह भी इँगलैंड में मधुसूदन के पास जा पहुँची। मधुसूदन पहले ही से रुपए-पैसे के लिये तंग थे, स्त्री के जाने से उनकी दुर्दशा का ठिकाना न रहा। वह दुर्दशा प्रतिदिन बढ़ने लगी; बढ़ने क्या लगी, 'पांचाली का चीर' हो गई। विलायत का वास, चार मनुष्यों का खर्च, प्राप्ति एक पैसे की नहीं। मधुसूदन ने कुछ रुपए बाबू मनोमोहन घोष से उधार लिए। वह भी उस समय बैरिस्टरी सीखने इँगलैंड गए थे। कुछ 'ग्रेज़ इन' के अधिकारियों से लिए, कुछ किसी से, कुछ किसी से। किसी प्रकार कुछ दिन उन्होंने वहाँ और काटे। कलकत्ते को उन्होंने अनेक करुणोत्पादक पत्र लिखे; परंतु वहाँ से एक पैसा भी न आया। उस समय उनको कोई ४,०००) रुपए अपने प्रबंधकर्ताओं से पाने थे; और उनकी पैत्रिक संपत्ति से कोई १,५००) रुपए साल की प्राप्ति थी। फिर भी मधुसूदन को विलायत में 'भिक्षां देहि' करना पड़ा। 'ग्रेज़ इन' के अधिकारियों ने उनका, उनके ऋण और निर्धनता के कारण, अपनी संस्था में आना रोक दिया। कुछ काल के लिये मधुसूदन फ्रांस चले गए। वहाँ उनको जेल तक

की हवा खानी पड़ी, और उनकी स्त्री और बच्चों को अनाथालय का आश्रय लेना पड़ा।

मधुसूदन को सब ओर अंधकार-ही-अंधकार दिखाई देने लगा। जब उन्होंने अपने और अपने कुटुंब के बचने का और कोई मार्ग न देखा, तब विद्यासागर का स्मरण किया। उनको उन्होंने एक बड़ा ही हृदय-द्रावक पत्र लिखकर अपने ऊपर दया उत्पन्न करने की उनसे प्रार्थना की, और धन की सहायता माँगी। अपनी सब संपत्ति बेचकर १५,०००) रुपए भेजने के लिये पंडित ईश्वरचंद्र विद्यासागर को उन्होंने लिखा, और अपने पत्र को इस प्रकार समाप्त किया—

"I hope you will write to me in France and that I shall live to go back to India and tell my countrymen that you are not only Vidyasagar but Karunasagar also"

अर्थात् "मै आशा करता हूँ कि आप मुझे फ्रांस मे पत्र भेजेंगे, और मैं भारतवर्ष पहुँचने और अपने देश-वासियों से यह कहने के लिये कि आप न केवल विद्यासागर हैं, बल्कि करुणासागर भी हैं, जीवित रहूँगा।"

मधुसूदन की प्रार्थना सफल हुई। विद्यासागर ने करुणा-सागर होने का परिचय दिया। उन्होंने मधुसूदन को यथेच्छ द्रव्य भेजकर उनकी अकाल-मृत्यु को टाला। मधुसूदन ने

किसी प्रकार वैरिस्टरी के व्यवसाय का आज्ञा-पत्र लेकर स्वदेश के लिये प्रस्थान किया।

१८६७ ईसवी के मार्च-महीने मे मधुसूदन कलकत्ते लौट आए, और हाईकोर्ट मे बैरिस्टरी करने लगे। परतु इस व्यवसाय में उनको सफलता न हुई। शुष्क क़ानूनी वाद-प्रति-वाद में उनका चित्त न लगा। कार्य के उद्धार करने का कौशल, जैसा चाहिए वैसा, उन्होंने न दिखलाया। न्यायाधीशों को उनके भाषण से संतोष न हुआ। उनके कंठ का स्वर भी अच्छा न था। इन्हीं कारणों से वह बैरिस्टरी मे कृतकार्य न हुए। उधर पैत्रिक सपत्ति बिक जाने से उससे जो प्राप्ति थी, वह बंद हो गई; और इधर बैरिस्टरी न चलने से प्राप्ति का दूसरा मार्ग भी बंद हो गया। पुस्तकों की बिक्री से जो कुछ मिलता था, उससे मधुसूदन के समान व्ययशील मनुष्य का क्या हो सकता था? क्रमशः उनका जीवन कंटकमय होता गया।

योरप से लौट आने पर ६ वर्ष तक मधुसूदन जीवित रहे। इस मध्यांतर मे वह कोई विशेष साहित्य-सेवा न कर सके। उनका समय प्रायः पेट पालने ही के उद्योग मे गया। परंतु वह आजन्म कवि थे; अतएव इस दुरवस्था के समय मे भी कुछ-न-कुछ उन्होंने लिखा ही। एक तो उन्होंने अँगरेज़ी 'ईसाप्स फेबल्स' की मुख्य-मुख्य कथाओं के आधार पर कई नीति-मूलक कविताएँ लिखीं। उनकी रचना उन्होंने १८७० ईसवी मे की। उनकी इच्छा इस पुस्तक को समाप्त करके उसे पाठशालाओं में प्रचलित

कराने की थी। यदि पुस्तक पूर्ण हो जाती और उसका प्रचार पाठशालाओं मे हो जाता, तो मधुसूदन का धन-कष्ट कुछ कम हो जाता; परतु दुर्दैव-वश पुस्तक ही न समाप्त हुई। ग्रीक कवि होमर-कृत इलियड-नामक काव्य को आदर्श मानकर मधुसूदन ने 'हेक्टरवध'-नामक एक काव्य भी आरंभ किया था। परंतु इलियड के १२ सर्ग ही तक की कथा का समावेश वह अपने काव्य मे कर सके। शेष भाग असमाप्त ही रह गया। 'माया-कानन'-नामक एक नाटक भी उन्होंने लिखना आरंभ किया था। वह भी वह समाप्त न कर सके। उसका जो अंश खंडित था, उसे वंग-देश की नाट्य-शाला के अध्यक्षों ने पूर्ण करके मधुसूदन की मृत्यु के पीछे उसे प्रकाशित किया।

पाँच वर्ष तक मधुसूदन ने हाईकोर्ट में बैरिस्टरी की। परंतु यथेच्छ प्राप्ति न होने से उनका ऋण बढ़ता ही गया। ऋण के साथ-ही-साथ उनके क्लेश की सीमा भी बढ़ती गई। जब ऋण देनेवालो ने उनको बहुत तंग करना आरंभ किया, तब मानसिक यंत्रणाओं से बचने के लिये मधुसूदन मद्य पीने लगे। क्रमशः मद्य की मात्रा बढने लगी। वह यहाँ तक बढ़ी कि उनको अनेक रोग हो गए। उनके मित्रों ने यथासंभव उनकी सहायता की, परतु दूसरों के दान पर मधुसूदन का काम कितने दिन चल सकता था? उनको भोजन-वस्त्र तक का कष्ट मिलने लगा। किसी-किसी दिन निराहार रहने तक की नौबत आने लगी। इस अवस्था को पहुँचकर भी मधुसूदन ने अपनी

उदारता और व्ययशीलता नहीं छोड़ी। एक दिन उनका एक मित्र अपने एक परिचित को उनके पास कुछ कानूनी राय पूछने के लिये लाया। मधुसूदन ने राय दी, परंतु फीस लेने से इनकार किया। मित्र के मित्र से फीस कैसी? इस समय मधुसूदन के घर मे एक पैसा भी न था। उन्होंने उस मनुष्य से फीस तो न ली; परतु अपने मित्र से पाँच रुपए अपनी स्त्री के लिये उधार माँगे! यह उनकी उदारता का जाज्वल्यमान प्रमाण है। उदार तो वह इतने थे; परंतु किसी से ऋण लेकर उसे देना न जानते थे; और ऋण लेकर भी रुपए को पानी के समान बहाते थे। जब उनके नौकर और ऋण-दाता पैसे के लिये उनके द्वार पर, और कभी-कभी घर के भीतर भी, कोलाहल करते थे, तब वह अपने कमरे मे जाकर जर्मन और इटालियन कवियों की कविता का आस्वाद लेते थे!

कुछ काल मे मधुसूदन के रोग ने असाध्य रूप धारण किया। उनकी स्त्री भी, घर की विपन्न अवस्था और रोग आदि कारणों से, निर्बल और व्यथित हो चली। पथ्य-पानी मिलना भी कठिन हो गया। जिस मधुसूदन ने लड़कपन मे राजसी ठाट से अपने दिन काटे, उसका वस्त्र-आभूषण और वर्तन आदि गृहस्थी का सामान सब धीरे-धीरे बिक गया! मधुसूदन की स्त्री का भी रोग बढ़ चला। उनका तो पहले ही से बढ़ा हुआ था। जब मधुसूदन के मित्रों ने देखा

कि उनके पास एक पाई भी नही, और घर मे उनके मुँह मे पानी डालनेवाला भी कोई नहीं, तब उन्होंने उनको अलीपुर के अस्पताल मे पहुँचाया। वहाँ पहुँचने के दो-तीन दिन पीछे मधुसूदन की स्त्री ने इस लोक से प्रस्थान किया। उसकी मृत्यु का सवाद सुनकर मधुसूदन को जो कष्ट हुआ, उसका वर्णन नहीं हो सकता। उनकी जो दुर्दशा हो रही थी, वह मानो उनकी अविवेकता का पूरा प्रायश्चित्त न थी; इसीलिये ईश्वर ने शायद उनको यह पत्नी वियोग-रूपी दारुण दुःख, मरने के समय, दिया। इस दुःख को उन्हे बहुत दिन नहीं सहना पड़ा। १८७३ ईसवी की २९ जून को मधुसूदन ने भी प्राण-परित्याग किया। ऐसे अद्वितीय बँगला-कवि का विषादांत जीवन समाप्त हो गया!

जिस समय मधुसूदन की मृत्यु हुई, उनके दो पुत्र और एक कन्या थी। ज्येष्ठ पुत्र मिल्टन और कन्या शर्मिष्ठा ने परलोक-गमन किया। परंतु उनके कनिष्ठ पुत्र, अलवर्ट नेपोलियन, इस समय, अफीम के महकमे मे कहीं काम करते है। मधुसूदन के अनंतर उनके मित्रों ने उनकी संतान के पालन-पोषण तथा शिक्षण इत्यादि का यथोचित प्रबंध किया। उसमे कोई त्रुटि नही होने पाई।

मधुसूदन के मरने पर, १५ वर्ष तक, उनकी समाधि इत्यादि का कोई अच्छा प्रबंध नहीं हुआ। परंतु १८८८ ईसवी की पहली दिसंबर को उनकी समाधि का संस्कार होकर उस पर

एक स्तंभ खड़ा किया गया। इस कार्य के लिये वंग-देश के अनेक कृतविद्य लोगों ने सहायता की। उस स्तंभ पर मधुसूदन ही की रची हुई कविता खोदी गई। यह कविता, मरने के दो-तीन वर्ष पहले, मधुसूदन ही ने लिखी थी। वह इस प्रकार है—

"दाँड़ाओ पथिक-वर, जन्म यदि तव
वंगे! तिष्ठ क्षण-काल! ए समाधि-स्थले
(जननीर कोले शिशु लभये येमति
विराम) महीर पदे महानिद्रावृत
दत्तकुलोद्भव कवि श्रीमधुसूदन!
यशोरे सागरदाँड़ी कवतक्ष-तारे
जन्म-भूमि, जन्म-दाता दत्त महामति
राजनारायण नामे, जननी जाह्नवी!

माइकेल मधुसूदन दत्त"

इसका शब्दार्थ, हिंदी में, पंक्ति-प्रति-पंक्ति, इस प्रकार होगा—

"खड़े हो, पथिक-वर, जन्म यदि तव
वंग-देश में, ठहरो थोड़ी देर! इस समाधि-स्थल पर
(माता की गोद में शिशु प्राप्त करता है जिस प्रकार
विश्राम) पृथ्वी के पद में (है) महानिद्रावृत—
दत्तकुलोद्भव कवि श्रीमधुसूदन!
यशोर में सागरदाँड़ी कवतक्ष-तीर

'ग-कवि माइकेल मधुसूदन दत्त

जन्म-भूमि, जन्म - दाता दत्त महामति
राजनारायण नाम, जननी जह्नवी।"

मधुसूदन का समाधि-स्तंभ स्थापित करके उनके देश
ासियों ने अपनी कृतज्ञता प्रकट की है। जिसने वंग-भाषा
ो अपनी अप्रतिम कविता से इतना अलंकृत किया, उसका
स प्रकार, मरणोत्तर आदर होना बहुत ही उचित हुआ।
ाँ तो, जब तक बँगला-भाषा का अस्तित्व है, तब तक
ाधुसूदन की यश-पताका, सब काल, वंग-देश मे फहराती
हेगी। उनके लिये समाधि-स्तभ आदि की विशेष आवश्यकता
ाहीं। उनका समाधि-स्तंभ और उनकी प्रतिमा (Statue)
ानके ग्रंथ ही हैं।

[जुलाई-अगस्त, १९०२

कविवर लछीराम

अयोध्या के प्रसिद्ध कवि कविवर लछीराम का शरीरांत हो गया। भादों वदी ११, मंगल, संवत् १६६१ को, सरयू के किनारे, अयोध्या में, उन्होंने इस लोक से प्रस्थान कर दिया।

लछीरामजी ब्रह्मभट्ट थे। उनकी कविता पर प्रसन्न होकर अयोध्या-नरेश, महाराजा मानसिंह, ने उनको अपने यहाँ रख लिया था। महाराजा मानसिंह के न रहने पर वर्तमान अयोध्या-नरेश ने भी उनका पूर्ववत् आदर बना रक्खा। अतएव यह वहीं रहे। परंतु यद्यपि वह अयोध्याधीश के कवि थे, तथापि और-और राजदरबारों में भी जाया करते थे। बस्ती के राजा शीतलाबख्श ने चरथी नाम का एक गाँव, हाथी और वस्त्राभूषण इत्यादि देकर लछीरामजी का सत्कार किया था। मल्लापूर के राजा मुनीश्वरसिंह और गिद्धौर के महाराजा रावणेश्वरप्रसादसिंह भी उनका सम्मान करते थे; उनकी कविता सुनते थे; और समुचित बिदाई देते थे। महाराजा टीकमगढ़ (ओरछा) और महाराजा दरभंगा तक उनको मानते थे। श्रीनगर-नरेश श्रीमान् राजा कमलानंदसिंह के पास लछीरामजी बुढ़ापे में गए थे। राजा साहब के नाम पर लछी-

रामजी ने 'कमलानंदकल्पतरु'-नामक ग्रंथ बनाया। उस ग्रंथ-रचना के उपलक्ष्य मे कविराजजी को हज़ारों रुपए नक़द और बहुमूल्य वस्त्राभरण देकर श्रीनगर-नरेश ने अपनी उदारता और गुणग्राहकता दिखलाई।

कमलानंदकल्पतरु के सिवा चरण-चंद्रिका, रामचंद्रभूषण और सरयूलहरी इत्यादि और भी कई ग्रंथ उन्होंने बनाए है। वह पुरानी प्रथा के कवि थे। अलंकार-शास्त्र मे ख़ूब प्रवीण थे। कविता भी उनकी बहुत अच्छी होती थी।

लछीरामजी अयोध्या मे रहते थे। वहीं उन्होंने एक राम-मंदिर बनवाया; कई कुएँ खुदवाए; और कई बाग भी लगवाए। अपनी जाति के बहुत-से लड़को के पढ़ने का उन्होंने प्रबंध कर दिया। सुनते है, दो-एक पंडित भी उन्होंने पढ़ाने के लिये रक्खे थे, और एक पाठशाला भी खोली थी। उनका एक पुत्र आठ-नौ वर्ष का है। वह और उसकी मा अयोध्या मे है।

लछीरामजी के शिष्य, यज्ञराज कवि, ने अपने गुरु, कविवरजी, के शोक मे एक कविता भेजी है। कविवरजी के विषय मे हमने जो कुछ लिखा है, वह उसी कविता के आधार पर है। लछीरामजी के चित्र से मालूम होगा कि यद्यपि आप पुराने ढंग के कवि थे, और पुराने ढंग की पगड़ी पहनते और लाठी बाँधते थे, तथापि पुरानी चाल के जूतों की जगह आप बूट पहनते थे। नई चीज़ों से बूढ़े कविवर भी नहीं बचे।

अब हम यज्ञराज कवि की शोकप्रकाश-नामक कविता का कुछ अंश नीचे देते हैं—

श्रीकबिबर लछिराम हाय ! बैकुंठ सिधारे;
यज्ञराज तव शिष्य सुनत दुख लह्यो अपारे।
बैठि गयो करि हाय, कहूँ कछु सूझत नाहीं;
किधौं सॉच कै झूठ, हाय बूझौ क्यहि पाहीं?
मुख ते कढै न बैन, नयन आँसू बह झर-झर;
आवन लगी उसाँस, गात काँपै सब थर-थर।
होय नहीं मन धीर, पीर उर असहन बाढ़ी;
भाँति-भाँति की उठैं चित्त में चिंता गाढ़ी।
जीवन जानि अनित्य लह्यो धीरज मन माहीं;
लछीराम को मरन सोचिबे लायक नाहीं।
मरन सोचिबे जोग जाहि मारै भुजग डसि;
पावक जरि, जल डूब, मरै बिष खाय, मारि असि।
सुजस नाम बिख्यात नहीं जाको जग माहीं;
मानुष-तन जो पाय सुकृत कीन्हों कछु नाहीं।
यहि विधि के सब जीव मरे पर जमपुर जाहीं;
इन सबको सुनि मरन साधुजन अति पछिताहीं।
सरस सकल साहित्य ईस-कबि ताहि पढ़ायो;
रचना रुचिर कबित्त माहिं बहु प्रेम बढ़ायो।
मानसिंह द्विजदेव जगत-बिख्यात अवधपति;
सुनि कबित्त दै दान रीझि सम्मान कियो अति।

श्रीयुत सब गुनधाम श्रीनगर को सिरताजा ;
कमलानंद 'सरोज' सराहत सुकबि-समाजा ।
बूढ़ेपन मे मिल्यो आय इनसों कविराजा ;
करत बारतालाप दुहुन को दोउ सुख साजा ।
भूपति कमलानंद दान दीन्हों बहुतेरो ;
अंकमालिका भेंटि कियो सनमान घनेरो ।
एक एक रचि ग्रंथ इते भूपन को दीन्हों ;
दै कबित्त लै बित्त चित्त सबको हरि लीन्हों ।
गरजनि सिंह-समान सभा मैं श्रीकबिवर की ;
सुनत ससकित सहमि कौन की मति नहिं थरकी ?
रचना रुचिर कबित्त जुक्ति साँचे में ढारयो ;
जनु रसिकन के हेतु मैन को बान सँवारयो ।
अचल अवध के बीच राममंदिर बनवायो ;
बन-प्रमोद जहँ सीय राम अतिसै सुख पायो ।
सदा औधपुर बास सुखद सरजू-जल-सेवा ;
लषन-राम-सिय छोड़ि और दूसर नहिं देवा ।

प्रतापगढ़ (अवध) के भगवंत कवि ने लछीरामजी की मृत्यु पर एक पद्य कहा है। उसे भी हम नीचे देते हैं—

अंस निज सुत मैं प्रसंस जगती के तल
रचना-सकति राखे सिष्यनि के हद मैं ;
सूझ भगवंत मैं सु बूझ कवि ज्ञानिन मैं
रीझ राखी नृपनि औ' खीझ बैरी सद मैं ।

कवि लछिराम कीनी चातुरी चलत एती
बानी बरबानी ज्ञान राखे बेद-नद मैं;
धन राखे भौन मैं सु गुन सब सामुहे मैं
तन राखे चौखट औ' मन राम-पद मैं।

[एप्रिल, १९०५

पंडित बलदेवप्रसाद मिश्र

जिन लोगों को हिंदी लिखने-पढ़ने का शौक है, वे मुरादा-बाद-निवासी पंडित बलदेवप्रसाद मिश्र को अवश्य जानते होंगे। उनकी बदौलत कितनी ही अच्छी-अच्छी पुस्तकें हिंदी में हो गई। वह प्रसिद्ध वक्ता पंडित ज्वालाप्रसाद मिश्र के छोटे भाई थे। चार-पाँच दिन बीमार रहकर ७ अगस्त १९०५ को, ३६ वर्ष की उम्र में, उनका शरीरपात हो गया। हिंदी का एक अच्छा लेखक खो गया। अफसोस!

सात-आठ वर्ष हुए, जब झाँसी में पहलेपहल पंडित बलदेवप्रसाद मिश्र हमसे मिले। आपके साथ आपके बड़े भाई पंडित ज्वालाप्रसाद, लाला शालग्राम और एक और कोई सज्जन भी थे। जब तक आप बैठे, बराबर साहित्य-विषयक बातें करते रहे। आपसे मालूम हुआ कि आपको गुजराती और मराठी-पुस्तकें भी पढ़ने का शौक है। आपने हमसे इन भाषाओं के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध अखबारों का नाम पूछा, और हमारे पास से दो-एक नमूने भी उनके लिए। झाँसी से आप, अपने साथियों समेत, छत्रपुर प्रस्थान कर गए। उस समय आप तंत्रप्रभाकर-नामक पत्र निकालते थे। मुरादाबाद लौटकर

आपने अपने पर्यटन का वृत्तांत उसमे छापा। हम लोगों की पारस्परिक भेट का भी आपने उसमें जिक्र किया।

इसके तीन-चार वर्ष बाद हमारे एक मित्र की बदली मुरादाबाद को हुई। उनसे मिलने के लिये हम कई दफे मुरादाबाद गए। वहाँ पंडित ज्वालाप्रसाद के यहाँ पंडित बलदेवप्रसाद से भी भेट हुई। उनसे मिलकर बड़ा आनंद हुआ। हमने देखा कि जो बलदेवप्रसाद चार वर्ष पहले हमसे मराठी और गुजराती के अच्छे-अच्छे अख़बारों और ग्रंथों के नाम पूछते थे, उनके यहाँ इतने थोड़े समय में, इन भाषाओं के कितने ही ऐसे अच्छे-अच्छे ग्रंथ, मासिक पुस्तके और अख़बार इकट्ठे हो गए हैं, जिनको हमने उसके पहले कभी देखा ही न था। हमको पंडित बलदेवप्रसाद के इस परिश्रम, इस विद्या-व्यसन, इस उन्नति और इस पुस्तकावलोकन-प्रेम पर आश्चर्य हुआ। हमने उनका हृदय से अभिनंदन किया, और उनके कहने से कई एक गुजराती-पुस्तके मँगाकर उनसे लाभ भी उठाया।

हिंदी तो पंडित बलदेवप्रसाद की मातृभाषा ही थी। उसके और मराठी तथा गुजराती के सिवा आप बँगला भी अच्छी तरह जानते थे। बँगला की भी बहुत-सी अच्छी-अच्छी पुस्तके हमने आपके यहाँ देखीं। पुस्तक-संग्रह से आपको बड़ा प्रेम था। जिन भाषाओं को आप जानते थे, उनके साहित्य मे होनेवाली बड़ी-बड़ी घटनाओं से भी आप खूब

वाकिफ थे। कोई भी महत्त्व-पूर्ण बात ऐसी न थी, जिसे आप न जानते हों। सुनते हैं, संस्कृत, अँगरेजी और उर्दू मे भी आपकी गति थी। पर इस विषय मे हम खुद कुछ नहीं कह सकते।

जनवरी १६०३ मे हम मुरादाबाद मे थे। पंडित ज्वाला-प्रसाद के मकान से थोड़ी दूर पर पंडित बलदेवप्रसाद रहते थे। उनके यहाँ जाकर हम बैठे हैं कि एक हिंदी-अखबार आया। उसमे सरस्वती की आलोचना थी। आलोचना बुरी तरह की गई थी। आपने उसे हमको दिखाया। उसे पढ़कर कृतज्ञता-ज्ञापन-पूर्वक हमने उन्हें लौटा दिया। थोड़ी देर ठहरकर आपने उस आलोचना के विषय मे अपनी राय दी, जिससे आपकी सुरुचि का हमे अच्छा पता मिला।

जब-जब हम मुरादाबाद जाते थे, पंडित बलदेवप्रसाद अपनी एक-आध पुस्तक देने की जरूर कृपा करते थे। हमारे मुरादाबादी मित्र को भी हिंदी की अच्छी-अच्छी किताबें पढने के लिये आप दिया करते थे। लाहौर से सनातनधर्म का पक्षपाती एक अखबार, उर्दू मे, निकलता था। शायद वह अब भी निकलता है। उससे और आर्यसमाज के एक अखबार से वैमनस्य हो गया। विरोधी धार्मिक समाजों में अनबन रहती ही है। दोनो तरफ कड़े-कड़े लेख लिखे जाने लगे। अंत में कचहरी तक जाने की नौबत आई। उसमें लाहौर के अखबार से संबंध रखनेवालों का पराभव हुआ। इस मुकदमे के सब कागजात आर्यसमाज के अनुयायियों

ने पीछे से पुस्तकाकार छपाए। पंडित बलदेवप्रसाद ने इस पुस्तक को मँगाकर बड़े चाव से पढ़ा, और हमारे मुरादाबादी मित्र को भी पढ़ने को दिया। उसी दर्मियान मे हम भी मुरादाबाद गए। पंडित बलदेवप्रसाद की बदौलत हमने भी इस पुस्तक को पढ़ा। इसमें कई एक बहुत ही रोमांचकारिणी और घृणित घटनाओं का जिक्र था। उनको पढ़कर हम दंग रह गए। धर्म-जीवी पुरुषों मे इतना अनाचार! शिव शिव!

पंडित बलदेवप्रसाद ने तंत्रप्रभाकर-नामक एक प्रेस खोला था। उसमे आप पहले तंत्र-संबंधी पुस्तके छापते थे। कुछ समय तक हरद्वार और मुरादाबाद मे तांत्रिक ग्रथों की बहुत धूम थी। पर कुछ दिन बाद बलदेवप्रसाद ने, किसी कारण से, यह प्रेस बंद कर दिया, और साथ ही तंत्रों के उद्धार की भी समाप्ति कर दी। तंत्रप्रभाकर नाम का जो अखबार आप निकालते थे, उसे भी आपने कुछ दिनों में बंद कर दिया। पंडित बलदेवप्रसाद ने कुछ समय तक भारतभानु और साहित्यसरोज आदि कई और भी अखबारों का संपादन किया था।

मुरादाबाद में बहुत दिनों से हिंदी की चर्चा है। इस शहर के कई एक लेखकों की कृपा से हिंदी में कितनी ही नई-नई पुस्तकें निकली है। परंतु इन लेखकों मे एक-आध ऐसे दैवी महात्मा हुए, जिनके कान मे देवता और ऋषि-मुनि तक अद्भुत-अद्भुत पुस्तकों का आशय सुना जाते थे। उसे ही ये सज्जन लिखकर प्रकाशित करते थे, और उन सिद्ध पुरुषों की बदौलत नाम

और दाम, दोनो, खूब पैदा करते थे। परंतु, जहाँ तक हम जानते हैं, पंडित बलदेवप्रसाद को इस तरह का कोई देवता सिद्ध न था। इस प्रात मे इस समय बहुत कम लोग ऐसे हैं, जिनका व्यवसाय सिर्फ किताबें लिखने का हो। पढ़नेवालो की कमी के कारण इस व्यवसाय से जोवन-निर्वाह कठिनता से होता है। परंतु पंडित बलदेवप्रसाद को अपनी बुद्धि और परिश्रम के बल से इसी व्यवसाय से यथेष्ट धन-प्राप्ति होती थी। मुरादाबाद मे हम डाकखाने के पास ठहरते थे। सुबह पडित बलदेवप्रसाद जब डाकखाने से अपनी डाक लेकर लौटते थे, तब हम बहुत-सी चिट्ठियाँ उनकी पुस्तकों की माँग से भरी हुई उनके पास देखते थे।

पंडित बलदेवप्रसाद बड़े परिश्रमी थे। उन्होंने थोड़ी ही उम्र मे बहुत-सी पुस्तके लिख डालीं। बबई के वेकटेश्वर-प्रेस से आपका अधिक संबध था। वहाँ आपकी कई पुस्तके छपी है। आपके अग्रज पडित ज्वालाप्रसादजी ने भी इस प्रेस के लिये कई पुराणों और काव्यों का हिंदी-अनुवाद किया है। आपके अनुवाद बहुत अच्छे है। उनका प्रचार भी खूब है। जिस समय हम बंबई मे थे, पंडित बलदेवप्रसाद का अनुवाद किया हुआ हिंदी-राजस्थान वेकटेश्वर-प्रेस मे छपने के लिये आया था। परंतु किसी कारण-विशेष से वह अभी तक नहीं छपा। पंडित बलदेवप्रसाद की इच्छा थी कि यदि हम फिर कभी बंबई जायँ, तो उनके इस अनुवाद को देखकर सेठ खेमराज

के सामने इसकी समालोचना करें। परंतु तब से बंबई जाने का हमें मौका ही न आया।

पंडित बलदेवप्रसाद जब हमारे स्थान पर, मुरादाबाद में, आते थे, तब आप हमसे हमेशा यह पूछा करते थे कि कोई नई पुस्तक आप लाए? हमारे पास यदि कोई पुस्तक होती थी, हम दिखलाते थे। एक दफे 'रूल्स ऑफ् मैनकाइंड' (Rules of Mankind) नाम की अँगरेज़ी-पुस्तक देखकर आप बहुत प्रसन्न हुए। उसकी तसवीरों पर आप मोहित हो गए, और अपने मित्रों आदि को दिखलाने के लिये उसे घर ले गए। आप बार-बार कहते थे कि यदि इसका हिंदी-अनुवाद हो जाय, तो बहुत अच्छा हो।

पंडितजी ने बँगला, मराठी और गुजराती-भाषा की पुस्तकों की सहायता से बहुत-सी पुस्तकें हिंदी में लिखीं, और अनुवादित कीं। पानीपत, देवी-उपन्यास, कुंद-नंदिनी, दंड-संग्रह, राजस्थान, नैपाल का इतिहास, तॉंतिया भील और पृथ्वीराज चौहान आदि हिंदी की पुस्तकें इन्हीं की हैं। संस्कृत की भी कई अच्छी-अच्छी पुस्तकों का अनुवाद आपने, इसी तरह, किया है। सूर्यसिद्धांत, वाराही संहिता, रसेंद्र-चिंतामणि, यंत्र-चिंतामणि, महानिर्वाणतंत्र, अध्यात्म रामायण और कल्कि-पुराण आदि उन्हीं में से हैं। आपने मराठी-हिंदी की एक प्राइमर (प्रथम पुस्तक) लिखकर हिंदी जाननेवालों के लिये मराठी सीखने का द्वार भी उन्मुक्त कर दिया है। यह पुस्तक

शायद नवलकिशोर के छापेखाने में छपी है। आपके भाई पंडित ज्वालाप्रसादजी ने श्रीमद्भागवत का अनुवाद हिंदी मे किया है। वेंकटेश्वर-प्रेस मे उसे छपे बहुत दिन हुए। दो-तीन वर्ष हुए, पंडित बलदेवप्रसाद के नाम से भी श्रीमद्भागवत का एक अनुवाद 'भारतमित्र'-प्रेस से प्रकाशित हुआ है। आपकी कई पुस्तकें 'भारतमित्र' और 'वेंकटेश्वर-समाचार' के ग्राहकों को उपहार में दी गई हैं। बँगला के प्रसिद्ध उपन्यास-लेखक वंकिम बाबू के उपन्यासों का बड़ा आदर है। पर उनके मालिक उनके स्वत्व की रक्षा बहुत सावधानी से करते हैं। यहाँ तक कि वे वंकिम बाबू के फुटकर लेखों को भी दूसरी भाषा में अनुवादित होने की अनुमति नहीं देते। और, देते भी हैं, तो बहुत मुश्किल से। पर पंडित बलदेवप्रसाद ने उनके भी कई उपन्यासों का अनुवाद, किसी तरह, हिंदी मे कर डाला। देवी और कुंदनंदिनी वंकिम बाबू के ही उपन्यासों का अनुवाद हैं। आपकी एक-आध पुस्तक में मूल-ग्रंथकार का नाम भूल से रह गया है। आपने हिंदी में कई एक नाटक और उपन्यास भी लिखे हैं। आपकी कुछ पुस्तकें अभी तक वे छपी हुई भी पड़ी हैं। पंडित प्रतापनारायण की एक पुस्तक अप्रकाशित पड़ी थी। अभी कुछ दिन हुए उसे प्रकाशित करके पंडित बलदेवप्रसाद ने बहुत अच्छा काम किया।

जब से हमारा परिचय पंडित बलदेवप्रसाद से हुआ, तब से

वह अक्सर अपनी नई पुस्तकों की एक कॉपी हमको भेजते थे। एक बार उन्होंने नाट्यशास्त्र-संबंधी अपनी एक पुस्तक हमारे पास भेजी। हमे वह पुस्तक बहुत अच्छी लगी। उसके लिये हमने उनको अनेक धन्यवाद दिए। पर हमने इतना लिख दिया कि मराठी में इस विषय की अमुक पुस्तक शायद आपकी नजर से गुजरी हो। तब से आप हमसे कुछ विरक्त-से हो गए। इसका हमे बहुत खेद है।

सुनते है, पंडित बलदेवप्रसादजी कविता भी करते थे; परंतु आपकी कविता हमारे देखने मे नहीं आई।

पंडित बलदेवप्रसाद की अकाल-मृत्यु से उनके कुटुंबियों और मित्रों को बहुत दुःख हुआ है। हम उनके दुःख से दुःखी हैं, और उनके साथ अपनी हार्दिक सहानुभूति प्रकट करते है। "मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्"—मरना शरीरधारियों का स्वभाव ही है। पर कुसमय की मृत्यु से मृत व्यक्ति के आश्रित संबंधी और स्नेही जनों को बहुत दुःख होता है। तथापि ऐसे मामलों मे मनुष्य का कुछ वश नहीं। उसे धैर्य ही धरना चाहिए।

इसमे कोई संदेह नहीं कि पंडित बलदेवप्रसाद के शरीर के साथ हिंदी का एक बहुत अच्छा लेखक, हमेशा के लिये, तिरोहित हो गया।

[नवबर, १९०५

पंडित प्रतापनारायण मिश्र

वंश-विवरण

पंडित प्रतापनारायण मिश्र हिंदी के मशहूर लेखक और कवि हो गए है। उन्होंने अपने 'ब्राह्मण' मासिक पत्र मे अपना चरित लिखना शुरू किया था। आपने उसका नाम रक्खा था 'प्रताप-चरित्र'। परंतु वह पूरा नहीं हुआ। छपा हुआ उसका सिर्फ पहला फॉर्म, अलग, पुस्तकाकार, खड्ग-विलास-प्रेस, बॉकीपुर मे हमे मिला है। उसमे प्रतापनारायण ने अपने पूर्वजों का वृत्तांत लिखा है। उसके अनुसार आप कान्यकुब्ज ब्राह्मणो के अंतर्गत वैजेगॉव के मिश्र थे। आपका गोत्र कात्यायन था। इसी से आप अपने को 'महर्षि-कात्यायन-कुमार' लिखते थे। उनकी देखा-देखी और भी दो-एक आदमी अपने को 'कात्यायन-कुमार' कहने लगे है। अवध मे एक जिला उन्नाव है। कानपुर से उन्नाव (शहर) पॉच-छ कोस है। बैजेगॉव उसी जिले मे है। उन्नाव से वह थोड़ी ही दूर है। प्रतापनारायण के पिता का नाम संकटाप्रसाद, पितामह का रामदयाल और प्रपितामह का सेवकनाथ था। उनके पितामह रामदयाल मिश्र, सुनते हैं, कवि थे। पर उनकी

लिखी हुई कविता प्रतापनारायण के देखने में नही आई । उनके पिता संकटाप्रसाद अच्छे ज्योतिषी थ । चौदह वर्ष की उम्र मे वह अपना जन्म-ग्राम छोड़कर, जीविका के लिये, कानपुर आए। यहाँ, धीरे-धीरे, उनकी आर्थिक दशा अच्छी हो गई, और उन्होंने कुछ रियासत भी पैदा कर ली। कुछ दिनों तक, ग़ाज़िउद्दीन हैदर के समय में, दीवान फतेहचंद के यहाँ उन्होंने नौकरी भी की। प्रतापनारायण की चाची कानपुर-निवासी ख्यातनामा प्रयागनारायण तिवारी के वंश की थी। इस योग के कारण प्रतापनारायण के पिता को कानपुर में रहने में बहुत सुबीता हुआ।

लड़कपन और विद्याभ्यास

प्रतापनारायण का जन्म आश्विन-कृष्ण ६, संवत् १९१३ (१८५६ ईसवी) मे हुआ था। उनके पिता ज्योतिषी थे ही। इससे उन्होंने अपने पुत्र, प्रतापनारायण, को भी ज्योतिर्विद् बनाना चाहा। पर प्रतापनारायण को "आदिनाडी वरं हन्ति मध्यनाडी च कन्यकाम्" वाले मसले पसंद नहीं आए। इससे लाचार होकर पिता ने उन्हे अँगरेजी मदरसे में भेजा। जिस मदरसे मे आपने अँगरेज़ी का आरंभ किया, उस पर आपकी बहुत दिनों तक कृपा नही रही। इस कारण पादरियो के मदरसे मे आपने पदार्पण किया। वहाँ उनका और 'आर्मी-प्रेस', (कानपुर) के मालिक बाबू सीताराम का साथ हुआ। बाबू सीताराम से मालूम हुआ कि प्रतापनारायण का दिल

पढ़ने मे न लगता था। इससे वह अपने अध्यापकों के बहुधा कोप-भाजन हुआ करते थे। धीरे-धीरे उन्हें पढ़ना पीड़ा-जनक मालूम होने लगा, और अँगरेज़ी की बहुत ही थोड़ी विज्ञता प्राप्त करके आपने, १८७५ ईसवी के लगभग, स्कूल से अपना पिंड छुड़ा लिया। इसके कुछ ही दिनों बाद आपके पिता की मृत्यु हुई। इससे इनकी शिक्षा की समाप्ति एकदम ही हो गई। स्कूल मे इनकी दूसरी भाषा हिंदी थी। पर इन्होंने उर्दू में भी अच्छा अभ्यास कर लिया था। आपने फ़ारसी और संस्कृत में भी कुछ कविताएँ लिखी हैं। इससे जान पड़ता है कि इन भाषाओं में भी आपकी गति हो गई थी। बँगला भी इन्होंने सीख ली थी।

कविता-प्रेम

जिस ज़माने मे प्रतापनारायण स्कूल मे थे, बाबू हरिश्चंद्र की 'कवि-वचन-सुधा' पत्रिका ख़ूब उन्नत अवस्था मे थी। उसमे बहुत ही मनोरंजक गद्य-पद्यमय लेख निकलते थे। उसे, और बाबू हरिश्चंद्र की अन्यान्य रचनाओं को भी, पढ़कर प्रतापनारायण की प्रवृत्ति कविता की तरफ़ हुई। उस समय कानपुर मे लावनी-बाज़ी का बड़ा ज़ोरोशोर था। बाबू सीता-राम कहते हैं कि लावनी गानेवालों की कई जमातें यहाँ थीं। लावनी का प्रसिद्ध कवि बनारसी भी उस समय अक्सर कानपुर मे रहा करता था। वे लोग बहुधा सर्व-साधारण मे लावनी गाया करते थे। उनके दो दल इकट्ठे हो जाते थे, और

लावनी कहने में एक दूसरे को परास्त करने की चेष्टा करता था। उनमें से कोई-कोई आदमी बहुत अच्छी लावनी कहते थे, और मौके-मौके पर नई लावनी बना भी लेते थे। प्रताप-नारायण इन लोगों की जमातों में कभी-कभी जाते थे। इसी समय कानपूर के प्रसिद्ध कवि पंडित ललिताप्रसाद त्रिवेदी के धनुष-यज्ञ की धूम थी। आप राम-लीला—विशेष करके धनुष-यज्ञ—कराने में बड़े निपुण थे। समयानुकूल अच्छी-अच्छी कविता की रचना करके और उसे लीला-गत पात्रों के मुँह से सुनाकर सुननेवालों के मन को आप मोहित कर लेते थे। प्रताप-नारायण भी इस लीला में शामिल होते और 'ललितजी' की कविता का पाठ करते थे। हरिश्चंद्र के लेख पढ़ने, लावनीवालों की लावनी सुनने और 'ललितजी' की लीला में योग देने से, सुनते हैं, प्रतापनारायण की हृदय-भूमि में कविता का बीज अच्छी तरह अंकुरित हो गया। इसके बाद छंदःशास्त्र के नियम भी शायद उन्होंने 'ललितजी' से सीखे। क्योंकि, सुनते हैं, इस विषय में वह 'ललितजी' को अपना गुरु मानते थे।

'ब्राह्मण'

प्रतापनारायण को हिंदी-अखबार पढ़ने का लड़कपन से ही शौक था। इसी शौक से धीरे-धीरे उत्साहित होकर, बाबू गोपीनाथ खन्ना इत्यादि की मदद से, इन्होंने १५ मार्च, १८८३ से 'ब्राह्मण'-नामक एक १२ पृष्ठों का मासिक पत्र

निकालना शुरू किया। यह कोई दस वर्ष तक निकलता रहा। पर निकलने मे यह बहुत अनियमित था। जन्म होने के थोड़े ही दिनों बाद इसके निकलने मे देरी होने लगी। इस देरी का कारण प्रायः पंडित प्रतापनारायण की बीमारी थी। आप अक्सर बीमार रहा करते थे। विशेष शिकायत आपको बवासीर की थी। १८८७ ई० में 'ब्राह्मण' कुछ दिनों के लिये बंद भी हो गया था। इनकी मृत्यु के बाद भी 'खड्गविलास-प्रेस' (बाँकीपुर) के मालिक, बाबू रामदीनसिंह, ने 'ब्राह्मण' को कुछ समय तक जीवित रक्खा। पर वह चला नहीं; बंद ही हो गया। प्रतापनारायण पर बाबू रामदीनसिंह की विशेष कृपा थी। उनकी बहुत-सी पुस्तको को बाबू साहब ने छापकर प्रकाशित किया है। प्रतापनारायण ने कुछ को छोड़कर अपनी सभी पुस्तकों का अधिकार बाबू रामदीनसिंह को ही दे दिया था।

'ब्राह्मण' मे पंडित प्रतापनारायण धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक, सभी तरह के लेख लिखते थे। यहाँ तक कि आप खबरे भी छापते थे। कभी-कभी कानपुर की बहुत छोटी-छोटी खबरें तक भी आप प्रकाशित कर देते थे। 'ब्राह्मण' का पहला अंक होली के दिनों मे निकला था। उसकी प्रस्तावना में प्रतापनारायण ने, उसकी पैदाइश होली की बतलाकर, आगे चलकर, थोड़ी दूर पर, होली पर ही एक लेख लिखा। लेख दिल्लगी से भरा हुआ है। पर उसके बीच

में जो मत-मतांतर की बातें आ गई हैं, वे जबरदस्ती लाई गई मालूम होती हैं।

'ब्राह्मण' में कैसे लेख निकलते थे, इसका अंदाज़ा लगाने के लिये कुछ लेखों के नाम हम नीचे देते हैं—

१. बेगार, २. होली, ३. रिशवत, ४. देशोन्नति, ५. गुप्त ठग (दूकानदार), ६. मुच्छ, ७. कानपुर-माहात्म्य (आल्हा), ८. शोकाश्रु (हरिश्चंद्र के मरने पर कविता), ९. विस्फोटक, १०. भारत-रोदनधर्म, ११. गंगाजी, १२. मानस-रहस्य, १३. बंदरों की सभा, १४. टेढ़ जानि शंका सब काहू, १५. घूरे के लत्ता बिनै, कनातन का डोल बाँधै, १३. खरी बात शहिदुल्ला कहैं, सबके जी ते उतरे रहैं, १७. जानै न बूझै, कठौता लैकै जूझै, १८. हाथी चले ही जाते हैं, कुत्ते भूँका ही करते हैं, इत्यादि।

'ब्राह्मण' के ज़माने में हिंदी की तरफ़ लोगों का ध्यान नया-ही-नया गया था। इससे मासिक पुस्तकों में जैसे लेख होने चाहिए, वैसे बहुत कम लेख 'ब्राह्मण' में निकले। हमने इस पत्र के पहले तीन साल के सब अंक देख डाले, किंतु इतिहास, जीवन-चरित, विज्ञान, पुरातत्त्व अथवा और कोई मनोरंजक, पर लाभदायक शास्त्रीय विषय पर कोई अच्छे लेख हमें न मिले। इसमें पंडित प्रतापनारायण का दोष कम था, समय का अधिक।

प्रतापनारायण की हिंदी खूब मुहाविरेदार होती थी।

वह अपने लेखों में कहावतें बहुत लिखते थे। पर शब्द-शुद्धि की तरफ़ उनका खयाल कम था। म्लेच्छ, रिषि, रिषीश्वर, रितु, ग्रहस्त, लेखणी, औगुण, मात्रभाषा आदि व्याकरण-विरुद्ध शब्द जगह-जगह पर देख पड़ते हैं। संभव है, ऐसे शब्द सावधानी से प्रूफ़ न देखने के कारण रह गए हों, या हिंदी समझकर प्रतापनारायण ने इन्हें ऐसा ही लिखा हो। 'ब्राह्मण' में हमें कितने ही संस्कृत के वाक्य भी व्याकरण विरुद्ध मिले। यथा—"अहं पंडितम्", "स्वधर्मो निधानः श्रेयः", "का चिन्ता मरणो रणो", "यथानामस्तथागुणः"। इनको देखकर पंडित प्रतापनारायण की संस्कृतज्ञता के विषय में शंका होने लगती है। पर संस्कृत में भी उन्होंने कविता लिखी है। उनकी एक पुस्तक का नाम है 'मन की लहर'। उसमें एक लावनी संस्कृत में है। वह यद्यपि निर्दोष नहीं; तथापि बुरी भी नहीं है। इसी पुस्तक में पंडित प्रतापनारायण की कुछ फ़ारसी-कविता भी है। पर फ़ारसी के अच्छे जाननेवाले ही उस पर अपनी राय दे सकते हैं। १५ मई, १८८३ ईसवी के 'ब्राह्मण' में एक लेख बेगार पर है। वह अँगरेज़ी में है। पता लगाने में मालूम हुआ कि वह मिशन-स्कूल के अध्यापक बाबू नन्हेंमल का लिखा हुआ है। प्रतापनारायण ने अपना उपनाम 'ईश्वरावलंबित' रक्खा था, और उनके साथी मास्टर नन्हेंमल ने 'सुखदावलंबित'। 'सुखदावलंबितजी' अभी विद्यमान हैं।

प्रतापनारायण के लेखों में मनोरंजकता की मात्रा खूब

होती थी। हास्य-रस के लाने का जहाँ ज़रा भी मौका होता था, वहाँ उसे वह हाथ से न जाने देते थे। कभी-कभी उर्दू की तरह की अनुप्रास-पूर्ण बनावटी इबारत भी आप लिखते थे। इनकी कविता बहुत अच्छी होती थी। कभी-कभी यह 'ब्राह्मण' की क़ीमत तक, दानग्राही ब्राह्मण की तरह, कविता ही मे माँगते थे। देखिए—

(१)

विज्ञापन

चार महीने हो चुके 'ब्राह्मण' की सुधि लेव।
गंगा माई जै करै, हमै दच्छिणा देव॥ १॥
जो बिन माँगे दीजिए, दुहुँ दिश होय अनंद।
तुम निश्चिन्त हो, हम करैं माँगन की सौगंद॥ २॥
सदुपदेश नित ही करैं, माँगैं भोजन, पात्र।
देखहु हम सम दूसरा कहाँ दान कर पात्र॥ ३॥
तुतें दान जो करिय तो, होय महाकल्यान।
बहुत बकए लाभ क्या? समुझ जाव जजमान॥ ४॥
रूपराज की कगर पर जितने होयँ निशान।
तिते वर्ष सुख-सुजस-जुत जियत रहो जजमान॥ ५॥

(२)

हरिगंगा

आठ मास बीते जजमान। अब तो करो दच्छिना दान॥ हरिगंगा
आजुकाल्हि जो रुपया देव। मानो कोटि यज्ञ करि लेव॥

माँगत हमका लागै लाज। पै रुपया बिन चलै न काज॥ हरिगंगा
तुम अधीन ब्राह्मन के प्रान। ज्यादा कौन बकै जजमान॥ ,,
जो कहुँ देहौ बहुत खिझाय। यह कौनिउँ भलमसी आय॥ ,,
सेवा दान अकारथ (?) होय। हिंदू जानत हैं सब कोय॥ ,,
हँसी खुसी से रुपया देव। दूध-पूत सब हमते लेव॥ ,,
कासी पुन्नि गया माँ पुन्नि। बाबा बैजनाथ माँ पुन्नि॥ ,,

प्रतापनारायण के कोई-कोई लेख व्यंग्य से बेतरह भरे हुए होते थे। उन्होंने एक दफे भंगड़ और फक्कड़ का किस्सा उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप मे लिखा था। वह साद्यंत विकट व्यंग्यों से पूर्ण है। हँसी-दिल्लगी के लेख लिखकर ग्राहकों को रिझाना इन्हे खूब आता था। तिस पर भी लोग 'ब्राह्मण' की कीमत वक्त पर न देते थे। बहुतेरे तो देते ही न थे। इससे इनको तंग होना पड़ता था, और घाटा भी उठाना पड़ता था। एक बार बीमारी के बाद बाबू हरिश्चंद्र के स्नान करने और अंत मे उनके मरने पर इन्होंने अपने पत्र में बहुत अच्छी कविता लिखी थी। अपनी कविता मे इन्होंने बाबू हरिश्चंद्र की बहुत तारीफ़ की है। एक जगह आप कहते हैं—

बनारस की जमीं नाज़ाँ है जिसकी पायबोसी पर,
अदब से जिसके आगे चर्ख़ ने गर्दन झुकाई है।
वही महताबे-हिंदुस्ताँ, वही ग़ैरतदिहे नैयर—
कि जिसने दिल स हर हिंदू के तारीकी मिटाई है।

सब उसके काम ऐसे हैं कि जिनको देख हैरत से
हरएक आकिल ने अपनी दाँत में उँगली दबाई है।

भारत-जीवन, भारतेंदु, उचितवक्ता और फतेहगढ़-पंच आदि पत्रों और मासिक पुस्तकों से कभी-कभी आप छेड़छाड़ भी कर बैठते थे। यदि वे आपकी बात मे दंश देते थे, तो आप उनको जवाब भी खूब देते थे। पडित बदरीदीन शुक्ल अकबरपुर (कानपुर) मे मदरसों के सब-डिप्टी-इंस्पेक्टर थे। उनकी तरक्की आदि के बारे मे आपने, न-मालूम क्यों, बार-बार 'ब्राह्मण' मे नोट लिखे हैं। इनके 'ब्राह्मण' की एक कॉपी कानपुर के कलेक्टर के नाम से भी जाती थी।

'हिंदोस्थान' से सबध

१८८६ ईसवी मे प्रतापनारायण कालेकॉकर गए, और राजा रामपालसिंह के 'हिंदोस्थान' के सपादन मे सहायता देने के काम पर नियत हुए। परंतु उनके स्वभाव मे स्वच्छंदता अधिक थी। इस कारण वह बहुत दिनो तक वहाँ न रह सके। उन्हे वहाँ से वापस आना पड़ा। उसी समय हिंदुस्तान के सच्चे शुभ-चिंतक ब्राडला साहब इस देश मे आए। उनके आने के उपलक्ष मे पंडित प्रतापनारायण ने 'ब्राडला-स्वागत' नाम की एक कविता लिखी। लोगों ने इस कविता का बड़ा आदर किया। इँगलैंड तक मे उसकी समालोचना हुई। इस कविता का आरंभ इस प्रकार है—

स्वागत श्रीयुत ब्राडला, प्रेम-प्रतिष्ठा-पात्र,
पलक-पाँवड़े करि रहे, तव हित देशी-मात्र।
स्वागत श्रीयुत चार्ल्स ब्राडला परम पियारे;
स्वागत, स्वागत ब्रिटिश-वंश-विधु जग-उजियारे।

कालेकाँकर मे इनकी संगति से एक ऐसे सज्जन ने हिंदी सीखी, जिसने ख़ुद देहाती होकर भी, और जिसकी बदौलत उसने हिंदी सीखी, उसकी जन्म-भूमि देहात मे थी, यह जानकर भी, देहातियो हा की सिखलाई हुई हिंदी मे देहातियों की निंदा करके अच्छा नाम पैदा किया है।

पुस्तक-रचना

इन्होंने अनेक पुस्तके लिखी और अनुवादित की। जहाँ तक जाना गया है, इनकी अनुवाद की हुई पुस्तके ये है—

(१) राजसिंह
(२) इंदिरा
(३) राधारानी
(४) युगलांगुरीय
} बंकिम बाबू के बँगला-उपन्यास

(५) चरिताष्टक—बंगाल के ८ प्रसिद्ध पुरुषो के चरित
(६) पंचामृत—पॉच प्रसिद्ध देवतों का अभिन्नत्व-निरूपण
(७) नीतिरत्नावली—बॅगला की नीतिरत्नमाला का अनुवाद
(८) कथामाला—ईश्वरचंद्र विद्यासागर की पुस्तक का अनुवाद
(९) संगीत शाकुंतल

(१०) वर्ण-परिचय, तृतीय भाग—ईश्वरचद्र विद्यासागर का पुस्तक का अनुवाद

(११) सेन-वंश—सेन-वंशीय राजों का इतिहास

(१२) सूबे बंगाल का भूगोल

प्रतापनारायण की लिखी पुस्तकें, जिनके नाम ज्ञात हुए है, ये हैं—

(१) कलिकौतुक (रूपक)

(२) कलिप्रभाव (नाटक)

(३) हठी हमीर (नाटक)

(४) गोसंकट (नाटक)

(५) जुआरी-खुआरी (प्रहसन)

(६) प्रेम-पुष्पावली

(७) मन की लहर

(८) शृंगार-विलास

(९) दंगल-खंड (आल्हा)

(१०) लोकोक्ति-शतक

(११) तृप्यंताम्

(१२) ब्राडला-स्वागत

(१३) भारतदुर्दशा (रूपक)

(१४) शैव-सर्वस्व

(१५) प्रताप-संग्रह } संग्रह

(१६) रसखान-शतक }

(१७) मानस-विनोद

इनके सिवा इन्होंने वर्ण-माला, शिशु-विज्ञान और स्वास्थ्य-रक्षा नाम की पुस्तकें भी लिखी है। पर हमने इन पुस्तकों को नहीं देखा; इससे हम नहीं कह सकते, ये अनुवाद-रूप है या इन्हीं की लिखी हुई। शव सर्वस्व मे आपने शिवालय, शिवलिंग-स्थापना और शिव-पूजन का समर्थन किया है। तृप्यताम् एक विनोदात्मक कविता है; पर उपदेश-पूर्ण है। उसमे देश-दशा का अच्छा चित्र है। लोकोक्ति-शतक भी अच्छी कविता है। उसमे एक-एक कहावत पर एक-एक पद्य है, और हर पद्य का अंतिम चरण स्वय कोई कहावत है। इनकी कई किताबे बिहार के शिक्षा-विभाग मे, बाबू रामदीन-सिह के प्रयत्न से, जारी हो गई थीं। मालूम नही, अब वे जारी है या नहीं। इनकी एक पुस्तक को मुरादाबाद-निवासी पडित बलदेवप्रसाद ने प्रकाशित किया है, पर उसका नाम, इस समय, हमे याद नहीं। प्रतापनारायण की पुस्तकों मे हम उनके सगीत शाकुंतल को सबसे अच्छा समझते हैं। अपनी अतिम बीमारी मे उन्होंने परमेश्वर की प्राथेना मे कुछ पद्यों की रचना की थी। वे भी बहुत सरस और भक्ति भाव-पूर्ण है।

रूप, रंग, आत्मश्लाघा आदि

प्रतापनारायण का रंग गोरा था। नाक बहुत बड़ी थी। शरीर दुबला था। कमर जवानी ही मे झुक गई थी। आप सिर के बाल बडे-बड़े रखते थे, और आगे दोनो तरफ़ काकुलें

थीं। वह किंचित् विलक्षण प्रकार की चेष्टा से कमर झुकाए हुए चलते थे। कदाचित् उनका दुर्बलत्व ही इसका कारण था। कभी-कभी मेले मे देखा गया कि परदे से ढके हुए इक्के मे बैठे, स्त्रियों की तरह झाँकते हुए, आप चले जा रहे है! हम दो दफे इनसे मिले। दोनो दफे हमने इनके लंबी दाढ़ी देखी। इनको नास सूँघने का व्यसन था। इनकी नाक दिन-भर नास फॉका करती थी। इससे इनकी दाढ़ी और मूछों के बालों पर भी थोड़ा-बहुत नास छाया रहता था। शरीर इनका रोग का घर था। आप अपने रूप आदि की तारीफ में कहते है—

कौसिक - कुल - अवतस श्री मिश्र संकटादीन।
जिन निज बुधि-विद्या-विभव वश प्रशसित कीन ॥ १ ॥

तासु तनय 'परतापहरि', परम रसिक, बुधराज।
सुघर रूप, सत कवित बिन जिहि न रुचत कछु काज ॥ २ ॥

प्रेम-परायन, सुजन-प्रिय, सहृदय, नव-रस-सिद्ध।
निजता, निज-भाषा-विषय, अभिमानी परसिद्ध ॥ ३ ॥

श्रीमुख जासु सराहना कीन्ही श्रीहरिचद।
तासु कलम करतूति लखि लहै न को आनद ॥ ४ ॥

(संगीत शाकुतल)

नाटक की प्रस्तावना मे कवि का अपने ही मुँह अपनी तारीफ करना अनुचित नही। पर, यहाँ, पंडित प्रतापनारायण

ने मतलब से कुछ जियादह अपनी तारीफ * कर डाली है। ऊपर के अवतरण के आगे भी आपने अपनी तारीफ की है, और अपने को 'पंडितवर' लिखा है। 'परम रसिक', 'सहृदय' और 'नव-रस-सिद्ध' इत्यादि विशेषण तो ठीक ही है, पर 'सुघर रूप' मे विलक्षणता है।

आत्मश्लाघा को लोगों ने बुरा माना है। यद्यपि सस्कृत के किसी-किसी कवि ने आत्मश्लाघा की है, पर कालिदास के सदृश विश्वमान्य कवि ने नम्रता ही दिखाई है। प्रतापनारायण संकीर्तन-कवि श्रीहर्ष और पंडितराज जगन्नाथराज के स्कूल के थे। उन्हे अपने को 'प्रसिद्ध प्रतापनारायण' लिखे विना कल ही न पड़ती थी। उनकी किताबों के ऊपर तक 'प्रसिद्ध'-शब्द विराजमान है। 'ब्राह्मण' मे कई जगह इन्होंने अपने मुँह अपनी और अपनी पुस्तकों की बड़ाई की

---

* पर प्रतापनारायण की आत्मश्लाघा उर्दू के प्रसिद्ध कवि इंशा-अल्लाहखाँ की आत्मश्लाघा के सामने कोई चीज़ नहीं। सैयद साहब ने एक मुशायरे में अपने एक प्रतिपक्षी के जवाब मे एक ग़ज़ल कही थी। उसकी कुछ पंक्तियाँ यों हैं—

> एक तिफ़्ल दबिस्ताँ है फ़लातूँ मेरे आगे ;
> क्या मुँह है अरस्तू, जो करे चूँ मेरे आगे।
> क्या माल भला कस्द फरेदूँ मेरे आगे,
> काँपे है पड़ा गुबदे-गरदूँ मेरे आगे।
> बोले है यही खामा कि किस-किसको मै बाँधूँ,
> बादल-से चले आते हैं मज़मूँ मेरे आगे।

है। अपनी 'प्रेम-पुष्पावली' के ऊपर आपने एक लेख 'ब्राह्मण' मे अपनी ही कलम से लिखकर उसकी खूब तारीफ की है। हमारी समझ मे इन बातों की जरूरत न थी। इनके लेख ही इनकी प्रसिद्धि के लिये काफी थे। खुद ही अपने को 'प्रसिद्ध' लिखने से इनकी प्रसिद्धि शायद ही अधिक हुई हो।

आप कविता मे अपना नाम प्रताप, प्रतापहरि और कभी-कभी प्रेमदास देते थे। प्रेम के आप बहुत बड़े पूजक थे। इसी से आपने अपने नामों मे एक नाम प्रेमदास भी रक्खा था।

स्वभाव

प्रतापनारायण के स्वभाव मे स्वच्छंदता अधिक थी। वह हमेशा अपने ही रंग मे मस्त रहते थे। उन्हे किसी की परवा न थी। जिन लोगों के साथ वह बैठते-उठते थे, अथवा जिनसे उनका मैत्री-भाव था, उनके यहाॅ कभी-कभी वह दिन-दिन-भर पड़े रहते थे। पर कभी-कभी हजार मिन्नत-आरजू करने पर भी उनके यहाॅ वह न जाते थे। वह सर्वथा मनमौजी थे। जब कभी कोई उनकी तबियत के खिलाफ कुछ कह देता या कोई काम कर बैठता, तब उसका भी जरा मुलाहजा न करके वह उसकी गोशमाली करने लगते थे। उनकी तबियत मे जोश था। इससे कभी-कभी छोटी-छोटी बातों पर भी वह बिगड़ उठते थे। स्वदेशी चीजो और कपड़ों पर उनका अधिक प्रेम था। सादापन उन्हे बहुत पसंद था। वह हमेशा सादे कपड़े पहनते थे। एक दफे कोट-बूट पहने एक महाशय उनसे

मिलने आए। उस समय वह बहुत सादी पोशाक में अपनी मित्र-मंडली के बीच बैठे थे। आगंतुक ने कहा—"हम पंडित प्रतापनारायण से मिलना चाहते हैं।" यह सुनकर प्रतापनारायण अपनी देहाती बोली मे बोल उठे—"भाई, उनसे मिलै की खातिर पंद्रह रुपैया का एकु टिकट लेइ का परत है, तव उइ मिलति है।" आपने अपने वैठने के कमरे का नाम रक्खा था 'ब्राह्मण-कुटीर'। पर बैठते आप वहाँ बहुत कम थे। एक दिन जब हम आपसे मिलने गए, आप वहीं हमको मिले। दीवार पर एक इकतारा टँगा था। हमारे साथ एक और सज्जन थे। उन्होंने उस इकतारे को उठाकर छेड़ना शुरू किया। कोई दो मिनट बाद प्रतापनारायण से न रहा गया। उन्होने उसे उनके हाथ से छीन लिया। आपने कहा—"यहि तना नही बजावा जात।" यह कहकर आप खड़े हो गए, और उसे बजाते हुए लावनी गाने लगे। हमारे साथी सज्जन ने पूछा—"ब्राह्मण मरिगा कि है ?" आपने कहा—"ब्राह्मण अब ना मरी; जी गा। बाबू रामदीनसिंह 'ब्राह्मण' का अमर कै दीन।" हम उनसे दो दफे मिले, पर हमे अफसोस है कि एक दफे भी उनसे साहित्य-विषयक बाते अच्छी तरह न हुई। शायद उनकी तबियत उस समय किसी और तरफ रुजू थी।

प्रतापनारायण अव्वल नंबर के काहिल थे। उनके बैठने की जगह तक मे कूड़े का ढेर लगा रहता था। अखबार, चिट्ठियाँ,

काग़ज़ बिखरे पड़े रहते थे। उनके यहाँ आने-जानेवाले, उनके मित्र, अगर उन्हें उठाकर जगह को साफ़ कर देते थे, तो कर देते थे। खुद प्रतापनारायण ने शायद ही कभी उनको उठाकर यथास्थान रक्खा हो। लोगों की चिट्ठियों का उत्तर तक वह बहुधा न देते थे। पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र को इन्होंने एक चिट्ठी लिखी थी। उसे 'खड्ग-विलास-प्रेस' ने छापकर प्रकाशित किया है। उसमें, एक जगह, चिट्ठियों का उत्तर न देने के विषय मे आप लिखते हैं—"को सारेन की खैहँसि मा परै।"

सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक विचार

प्रतापनारायण को सामाजिक बंधनों की परवा बहुत कम थी। इस विषय में विधि-निषेध-संबंधी जो नियम प्रचलित है, उनकी पाबंदी के वह कायल न थे। उनका आहार-विहार अनियंत्रित था। शरीर-रक्षा के नियमों का वह अच्छी तरह पालन न करते थे। इसी से उनका शरीर जवानी ही मे मिट्टी हो गया था, और इसी से उनको अकाल-मृत्यु भी हुई। कवि ही तो ठहरे। कवि स्वभाव ही से उच्छृंखल होते है।

सामाजिक बंधनों की तरह धार्मिक बंधनों के भी वह बहुत अधिक वशीभूत न थे। धर्मांधता उनमे न थी। आपके सिद्धांत थे 'प्रेम एव परो धर्मः' और 'शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि।' किसी विरोधी धर्म से उन्हे आंतरिक घृणा न थी। वह आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, धर्मसमाज, सब कहीं

अक्सर चले जाते थे। शायद कुछ दिनों तक किसी पादरी को पढ़ाने की नौकरी भी आपने कर ली थी। उन्होंने एक सनातन-हिंदू-धर्मावलंबी के घर में जन्म लिया था, और ऐसे ही धर्मावलंबी लोगों के साथ वह बैठते-उठते भी थे। इसलिये इस धर्म की तरफ उनकी प्रवृत्ति स्वभाव ही से अधिक थी। यह इनके लेखों से जाहिर है। अकेला इनका 'शैव-सर्वस्व' ही इस बात का पक्का सबूत है। एक दफे कलकत्ते के हाईकोर्ट में किसी जज ने शालग्राम की मूर्ति उठवा मँगवाई थी। इस पर प्रतापनारायण बिगड़ उठे थे। आपने कई लेख इस बात के ख़िलाफ लिखे थे।

कांग्रेस को यह अच्छा समझते थे। उसके यह पक्षपाती थे। एक दफे मदरास और एक दफे इलाहाबाद की कांग्रेस में कानपुर से प्रतिनिधि होकर आप गए भी थे। गोरक्षा के यह बहुत बड़े हिमायती थे। अपनी कई कविताओं में इन्होंने गोरक्षा पर जोर दिया है। सुनते हैं, कानपुर में जो इस समय गोशाला है, उसकी स्थापना के लिये प्रयत्न करनेवालों में यह भी थे। एक दफे स्वामी भास्करानंद के साथ यह कन्नौज गए। वहाँ गोरक्षा पर इन्होंने एक व्याख्यान दिया। व्याख्यान में इन्होंने एक लावनी कही। उसका आरंभ इस प्रकार है—

"बाँ-बाँ करि तृण दाबि दाँत सों
दुखित पुकारत गाई है।"

इसमें करुण-रस का इतना अतिरेक था कि मुसलमानों तक

पर इसका असर हुआ, और एकआध क़साइयो ने गोहत्या से तोबा तक कर ली।

हरिश्चंद्र पर भक्ति

हरिश्चंद्र पर प्रतापनारायण की अपूर्व भक्ति थी। उनकी 'कविवचनसुधा' पढ़ते-ही-पढ़ते हिंदी पर यह अनुरागशील हुए थे। हरिश्चंद्र की इन्होंने बहुत तारीफ की है। 'ब्राह्मण' मे कई जगह मिश्र महाराज ने हरिश्चंद्र को ऐसे-ऐसे विशेषण दिए है, जो सिर्फ बहुत बड़े-बड़े महात्माओं को ही दिए जाते है। इन्होंने उनके हाथ तक जोड़ हैं। यह बात, उस समय, किसी-किसी को अच्छी नही लगी। इससे इन पर आक्षेप भी हुए। आक्षेपों का इन्होंने यथामति उत्तर भी दिया। हरिश्चंद्र ने जब से प्रतापनारायण की 'प्रेमपुष्पावली' की तारीफ की, तब से इनका उत्साह बहुत बढ़ गया। हरिश्चद्र की आलोचना गोया इनके सुलेखक और सुकवि होने की एक शिला-लिखित सर्टीफिकेट हो गई। उसका उल्लेख करके इन्होंने कई दफे अपने ही मुँह अपनी तारीफ की। हरिश्चंद्र के मरने पर इन्होंने 'शोकाश्रु'-नामक एक विलापात्मक लंबी कविता ब्राह्मण' मे प्रकाशित की। उसमे इन्होंने बाबू साहब के गुण गाते-गाते आकाश-पाताल एक कर दिया। हरिश्चंद्र को इन्होंने 'पूज्यपाद' तक कहा है। अपने कई ग्रंथों के आदि मे 'हरिश्चंद्राय नमः' लिखा है। उनके मरने पर इन्होंने 'हरिश्चंद्र-संवत्' लिखना तक शुरू कर दिया था।

मृत्यु

इनका शरीर क्या था, रोग का चिर वास्तव्य था। कई दफ़े यह सख्त बीमार हुए, पर बच गए। संवत् १६५१ की आषाढ़-शुक्ल चतुर्थी, रविवार, (ऑगस्ट १८६४) इनकी जीवनयात्रा का अंतिम दिन था। उसी दिन, ३८ वर्ष की उम्र में, रात के दस बजे के करीब, इनका शरीरपात हुआ। इनके मरने पर सभी हिंदी-अखबारों ने शोक-सूचक लेख लिखे। कविताएँ भी बहुत-सी प्रकाशित हुईं। इनके कोई संतति नहीं। इनकी विधवा अभी तक विद्यमान हैं। इनके पूर्वजों के उपार्जित दो-तीन मकान कानपुर में हैं। शायद उन्हीं के किराए पर इनका गुजर होता है। मरने के पहले कुछ काल के लिये प्रतापनारायण बॉकीपुर चले गए थे। इन पर बाबू रामदीनसिंह की कृपा थी। इसी-लिये यह वहाँ गए थे। जैसा ऊपर लिखा गया है, इनकी प्रायः सभी किताबें खड्गविलास-प्रेस के मालिक ही छापते और बेचते हैं। मालूम नहीं, उन्होंने पंडित प्रतापनारायण की विधवा की कुछ मदद की या नहीं।

प्रतिभा, परिहास-प्रीति, नाट्य-कौशल आदि

कोई-कोई कहते हैं कि प्रतापनारायण संस्कृत भी अच्छी जानते थे और फारसी भी। किसी-किसी के मुँह से हमने सुना है कि वह अरबी तक जानते थे। परंतु जो लोग उनके पास हमेशा बैठते-उठते थे, उनका मत है कि वह अरबी नहीं जानते थे। उर्दू में तो वह बहुत अच्छी कविता करते थे।

मुशायरों तक मे जाते थे। 'दीवाने-बिरहमन' मे उनकी उर्दू-कविता संगृहीत है। संस्कृत मे भी उनके नाम से कुछ कविता छपी है और फारसी में भी। पर इस बात की तहकीकात करने की हम कोई जरूरत नही देखते कि वह इन भाषाओं मे कितनी गति रखते थे। कवि के लिये जिस बात की सबसे अधिक जरूरत होती है, वह प्रतिभा है। और, इसमे कोई संदेह नही कि प्रतापनारायण मे प्रतिभा थी; और थोड़ी नही, बहुत थी। विद्वत्ता होने से कविता-शक्ति मे कोई विशेषता नही आ सकती; उलटे हानि चाहे उससे कुछ हो जाय। प्रतापनारायण की कविता मे प्रतिभा का प्रमाण अनेक जगह मिलता है। उनकी कोई-कोई उक्तियाँ बहुत ही अनोखी और नई है। उनकी कविता मे विशेष करके हास्य-रस का बहुत ही अच्छा परिपाक होता था। वह बड़ी शीघ्रता से छंदोरचना कर सकते थे। जैसा पहले कहा गया है, कानपुर मे बहुधा लावनीबाजों के दो दलो में लावनीबाजी हुआ करती थी। कभी एक दलवाले उनको अपनी तरफ बिठा लेते थे और उस दल की इच्छा के अनुसार, विरोधी दल का गाना समाप्त होते-होते, वह नई लावनी तैयार कर देते थे। कभी दूसरे दलवाले भी ऐसा ही करते थे। कई दफे उन्होंने नाटक भी खेला था। उसमे उन्होंने अपनी हास्यमयी कविता से दर्शकों को खूब हँसाया था। फागुन मे इकतारा लेकर वह उपदेश-पूर्ण, पर हास्य-जनक, होली, कबीर और पद आदि गाते थे। वह बहुत जल्द कविता करते थे।

यथासमय कविता बनाकर लोगों को वह मोहित कर देते थे। एक दफ़े एक साधु ने यह पद गाया—

"तजहु मन हरि-विमुखन को संग,
जिनकी संगति सदा पायके परत भजन में भंग।"

प्रतापनारायण ने इस पूरे पद के मतलब को बिलकुल ही उलटकर इस तरह गाया—

"तजहु मन हरि-भक्तन को संग,
जिनकी संगति सदा पायके होत रंग में भंग।"

इसी तरह सारे पद के अर्थ को इन्होंने बदल दिया। यह पूरे मसखरे थे।

यदि पंडित प्रतापनारायण मिश्र के जीवन-चरित में यह न लिखा जाय कि वह बड़े ही दिल्लगीबाज और किसी अंश में फक्कड़ थे, तो वह चरित अवश्य ही अपूर्ण समझा जायगा। एक बार नाटक में उनको स्त्री का रूप लेना था, इसलिये मूछों का मुड़वाना जरूरी था। आप बड़े भक्ति-भाव से अपने पिता के सामने हाज़िर हुए और बोले—"यदि आज्ञा दीजिए, तो इनको मुड़वा डालूँ। इनका मुड़वाना जरूरी है। परंतु मैं अनाज्ञाकारी नहीं बनना चाहता।" पिता ने हँसकर आज्ञा दे दी।

पंडित प्रतापनारायण नाटक खेलने के विशेष प्रेमी थे, और जब-जब वह नाटक खेले, तब-तब उनके चातुर्य की प्रशंसा हुई। एक बार उन्होंने 'ठट्ठ-ग्रामी' का पार्ट लिया था। उस

समय इनके और मुसलमान वेश्या के वेश में कोई अंतर न था। दर्शकों मे बैठी हुई एक प्रसिद्ध वेश्या से 'बुआ सलाम' कहकर उन्होंने सलाम किया, तो वह सहसा बोल उठी 'बेटी, जाती रह।'

प्रतापनारायणजी बाज़ारों मे धर्म-शिक्षा देनेवाले पादरियों से बहुत उलझा करते और उनको .खूब छकाते थे। उनकी तर्क-शक्ति .खूब प्रबल थी। एक बार आप कह बैठे कि दुनिया की प्रथम पुस्तक कोक-शास्त्र है! पादरी के प्रश्न पर आपने इस शास्त्र के सिद्धांतों का परिचय देकर बहुत से सामान्य धर्म, कर्म उसी के अंदर कह सुनाए। यह सब सुनकर पादरी साहब बहुत ही छके।

एक दिल्लगी और सुनिए। एक दिन पादरी साहब से और उनसे इस तरह बातचीत हुई—

पादरी—आप गाय को माता कहते हैं?

प्रताप—जी हाँ।

पादरी—तो बैल को आप चचा कहेगे?

प्रताप—बेशक—रिश्ते मे क्या इनकार है?

पादरी—हमने तो एक दिन अपनी आँखों एक बैल को मैला खाते देखा था।

प्रताप अजी साहब, वह बैल ईसाई हो गया होगा! हिंदू-समाज मे ऐसे भी बैल होते है!

पादरी साहब चुप हो रहे। कहते ही क्या?

एक बार कानपुर की म्युनिसिपैलिटी मे इस बात पर विचार हो रहा था कि भैरव-घाट मे मुर्दे बहाए जायँ या नहीं। गंगाजी का प्रवाह उस घाट से कानपुर की बस्ती की ओर है। तरह-तरह के प्रस्ताव होते-होते किसी ने कहा कि जले हुए मुर्दे की पिंडी यदि इतने इंच से अधिक न हो, तो बहाई जाय। दर्शकों मे प्रतापनारायण भी उपस्थित थे। आप खड़े होकर बोल उठे—"अरे दैया रे दैया! मरेउ पर छाती नापी जाई!"

सुनते हैं, ये साँस बंद करके घंटों तक मुर्दा-से पड़े रहते थे। जिस अंग को चाहते थे (यथा एक कान या दोनो) उसे यह यथेच्छ हिलाते या फड़काते थे। ऐसा करने मे और अंग स्थिर रहते थे। इससे किसी-किसी का मत है कि यह योग-विद्या जानते थे। पर प्रतापनारायण के-ऐसे आहार-विहार करनेवाले का योगी होना कुछ असंभव-सा जान पड़ता है।

निदान, प्रतापनारायण स्वतंत्र थे, फक्कड़ थे हिंदी और हिंदुस्थान और कांग्रेस के परम भक्त थे। अच्छे कवि, लेखक और उत्साही थे। प्रारब्ध ने इनको अधिक नहीं जीने दिया, नहीं तो इनसे समाज को अनेक लाभ पहुँचने की आशा थी।

हिंदी की हिमायत

यह कहने की जरूरत नहीं कि यह हिंदी के बहुत बड़े हिमायती थे। हिंदी के पक्ष मे इन्होंने 'ब्राह्मण' मे बहुत दफे अच्छे-अच्छे लेख लिखे। एक दफे 'फ़तेहगढ़-पंच' ने

इनकी हिमायत के खिलाफ कुछ लिखा और हिंदी में दोषोद्भावना की इस पर प्रतापनारायण जामे से बाहर हो गए। आपने 'पंच' की दलीलों का बड़ी ही योग्यता से खंडन किया। कई महीने तक यह विवाद जारी रहा, और प्रतापनारायण 'पंच' की वे सिर-पैर की बातों की असारता दिखलाते रहे। हिंदी के विषय में आपका उपदेश यह था—

"चहहु जो साँचौ निज कल्यान,
तो सब मिलि भारत-सुतान
जपो निरंतर एक ज़बान—
हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान ॥ १ ॥
तबहि सुधरिहै जन्म निदान ;
तबहिं भलो करिहै भगवान।
जब रहिहै निशि-दिन यह ध्यान—
हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान ॥ २ ॥"

इससे इनका देशाभिमान भी सिद्ध होता है।

कविता के नमूने

पंडित प्रतापनारायण की कविता के कुछ नमूने देकर हम इस लेख को पूरा करना चाहते है—

ब्राडला-स्वागत

"नोन, तेल, लकड़ी, घासहु पर टिकट लगै जहँ,
चना, चिरौजी मोल मिलै जहँ दीन प्रजा कहँ।

"जहाँ कृषी, वाणिज्य, शिल्प, सेवा सब माहीं ;
देशिन के हित कछू तत्त्व कहुँ कैसहु नाहीं ॥ १ ॥
कहिय कहाँ लगि, नृपति दबे हैं जहँ ऋन-भारन ;
तहँ तिनकी धन-कथा कौन जो गृही सधारन।
जे अनुशासन करन हेत इत पठए जाहीं ;
वे बहुधा निज काज प्रजा सों मिलत लजाहीं ॥ २ ॥"

लोकोक्ति-शतक

"छाँड़ि नागरी सुगुणआगरी उर्दू के रँग राते ;
देशी वस्तु विहाय विदेशिन सों सर्वस्व ठगाते।
मूरख हिंदू कस न लहें दुख जिनकर यह ढँग दीठा ;
'घर की खाँड़ खुरखुरी लागै चोरी का गुड़ मीठा' ॥ १ ॥
नहिं सीखत सद्गुण करि नेम,
निज हठ तजि न प्रचारत प्रेम,
परदेशिन सेवत अनुरागे,
'सब फल खाय धतूरन लागे' ॥ २ ॥"

तृप्यताम्

"केहि विधि वैदिक कर्म होत कब
कहा बखानत ऋक्, यजु, साम ;
हम सपने हूँ में नहिं जानैं
रहैं पेट के बने गुलाम।
तुमहिं लजावत जगत जनम लै
दुहुँ लोकन में निपट निकाम,

कहैं कौन मुख लाय हाय फिरि
ब्रह्मा बाबा तृप्यंताम् ॥ १ ॥

देख तुम्हारे फरज़दों का
तौरो-तरीक़ तुआमो कलाम ;
ख़िदमत कैसे करूँ तुम्हारी
अक्ल नहीं कुछ करती काम।
आबे-गग नज़र गुज़रानूँ
या कि मये गुलगूँ का जाम ;
मुंशी चितरगुपत साहब
तसलीम कहूँ या तिरपिंताम् ॥ २ ॥"

इन नमूनों से प्रतापनारायण का स्वदेश और स्व-भाषा-संबंधी प्रेम टपका पड़ता है। स्वदेश-दशा का चित्र भी इनमें अच्छा देख पड़ता है।

फुटकर कविता

अपने लेखों और चिट्ठियों मे यह कभी-कभी बैसवारे की अपनी ठेठ देहाती बोली के वाक्य लिख दिया करते थे। उनमे अपूर्व रस भरा रहता था। इस तरह की देहाती बोली मे इन्होंनें कुछ कविता भी की है। ऐसी कविता का एक नमूना सुनिए।

एक वृद्ध आदमी अपनी दशा का वर्णन करता है—

"हाय बुढ़ापा तोरे मारे
अब तो हम नकन्याय गयन ;

करत धरत कुछु बनतै नाहीं
कहाँ जान औ' कैस करन।
छिन भरि चटक छिनै मा मद्धिम
जस बुझात खन होय दिया;
तैसे निखवख देखि परत हैं
हमरी अकिल कै लच्छन ॥ १ ॥

अस कुछु उतरि जाति है जी ते
बाजी बेरिया बाजी बात;
कैसेउ सुधि ही नाहीं आवति
मूड़इ काहे न दै मारन।
कहा चहौ कुछु, निकसत कुछु है
जीभ राँड का है यहु हालु;
कोऊ याकी बात न समुझै
चाहे बीसन दाँय कहन ॥ २ ॥

दाढ़ी नाक याक माँ मिलि गै
बिन दाँतन मुँहु अस पोपलान,
दढ़िही पर बहि-बहि आवति है
कबौ तमाखू जो फाँकन।
बार पाकि गे रीरौ झुकि गै
मूड़ौ सासुर हालन लाग,
हाथ-पाँय कुछु रहे न आपनि
केहिके आगे दुखु रवावन ॥ ३ ॥

यही लगुठिया के बूते अब
जस तस डोलित - डालित है ;
जेहिका लैके सब कामन माँ
सदा खखारत फिरत रहन।
जियत रहैं महराज सदा जो
हम ऐंस्यन का पालति है ;
नाहीं तो अब को घौ पूछै
केहिके कौने काम के हन ॥ ४ ॥"

इस कविता मे बुढापे का बहुत ही अच्छा फोटो है। कविता खूब सरस है। पर हमे डर है कि जो इस बोली को अच्छी तरह नहीं जानते, वे इसका पूरा-पूरा मजा न पावेगे। जिन लोगों का यह खयाल है कि किसी विशेष प्रकार की भाषा या बोली मे ही अच्छी और सरस कविता हो सकती है, वे देखें कि महागँवारी बोली मे भी रसवती कविता हो सकती है। पर, हाँ, कवि प्रतिभावान् होना चाहिए। प्रतापनारायण ने आल्हा तक मे कविता की है, और वह भी सरस और हृदयहारिणी है। कानपुर के दंगल पर उन्होंने एक पुस्तक ही लिख डाली है। इस पुस्तक मे आदि से अत तक आल्हा ही है। इसके सिवा, कानपुर पर भी, आल्हा-छंद मे, आपने कविता की है। इस पिछली कविता का गोरक्षा-विषयक एक नमूना देखिए—

"गैया माता तुमका सुमिरौं
कीरति सबते बड़ी तुम्हारि ,

करौ पालना तुम लरिकन कै
पुरिखन बैतरनी देउ तारि ।
तुम्हरे दूध दही की महिमाँ
जानैं देव पितर सब कोय ;
को अस तुम बिन दूसर जेहिका
गोबर लगे पवित्तर होय ॥ १ ॥
जिनके लरिका खेती करिकै
पालैं मनइन कें परिवार ;
ऐसी गाइन की रच्छ्या माँ
जो कुछु जतन करौ सो थ्वार ।
घास के बदले दूध पियावैं
मरिकै दैंय हाड़ औ' चाम ;
धनि वह तन मन धन जो आवै
ऐसी जगदंबा के काम ॥ २ ॥
आल्हाखंड की पोथी लैके
याखौ तनुक लिखा कस आय ;
"जहाँ रोसैंयाँ है ऊदन कै
भूखा मुगुन पछारै गाय।"
को अस हिंदू ते पैदा है
जो अस हाल देखि एकसाथ ;
रकत के आँसुन रोय न उठिहै
माथे पटकि दुहत्था हाथ ॥ ३ ॥

सब दुख-सुख तो जैसे-तैसे
गाइन की नहिं सुनै गुहार;
जब सुधि आवै मोहिं गैयन की
नैनन बहै रकत की धार।
हियाँ की बातैं तो हियनै रहि गईं
अब कंपू के सुनौ हवाल;
जहाँ के हिंदू तन मन धन ते
निस-दिन करैं धरम प्रतिपाल॥ ४॥"

प्रतापनारायण के आल्हा का नमूना आप देख चुके। अब उनकी भक्ति-रस में शराबोर कविता का एक उदाहरण लीजिए—

"आगे रहे गनिका, गज, गीध
सु तौ अब कोऊ दिखात नहीं हैं;
पापपरायन ताप-भरे
परताप समान न आन कहीं हैं।
हे सुखदायक प्रेमनिधे
जग यों तो भले औ' बुरे सबही हैं;
दीनदयाल औ' दीन-प्रभो
तुम-से तुमहीं हम-से हमहीं हैं॥ १॥"

इस पद्य की हम तारीफ नहीं कर सकते। सरस कविता का यह बहुत ही अच्छा नमूना है।

उर्दू की कविता

अब इनकी थोड़ी-सी उर्दू-कविता सुनिए यह कविता। एक तरह के समस्या-समूह की पूर्ति है। इसमे पहली पंक्ति इनकी है, दूसरी और किसी की। पर, मेल दोनो का ख़ूब मिल गया है—

ग़ज़ल

"वह बद ख़ू राह क्या जाने वफ़ा की।
"अगर ग़फ़लत से बाज़ आया जफ़ा की" ॥ १ ॥
न मारी गाय गोचारन किया बद।
"तलाफ़ी की जो ज़ालिम ने तो क्या की" ॥ २ ॥
मियाँ आए हैं बेगारी पकड़ने।
"कहे देती है शोख़ी नक्शे-पा की" ॥ ३ ॥
पुलिस ने और बदकारों को शह दी।
"मरज़ बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की" ॥ ४ ॥
जो काफ़िर कर गया मंदिर में बिदअत।
"वो जाता है दुहाई है ख़ुदा की" ॥ ५ ॥
शबे - क़त्ल आगरे के हिंदुओं पर।
"हक़ीक़त खुल गई रोज़े - जज़ा की" ॥ ६ ॥
ख़बर हाकिम को दे इस फ़िक्र मे हाय।
"घटा की रात और हसरत बढ़ा की" ॥ ७ ॥
कहा अब हम मरे साहब कलक्टर।
"कहा मै क्या करूँ मरज़ी ख़ुदा की" ॥ ८ ॥

ज़मीं पर किसके हो हिंदू रहें अब।
"खबर ला दे कोई तहतुस्सरा * की" ॥ ६ ॥
कोई पूछे तो हिंदुस्तानियों से।
"कि तुमने किस तवक़्क़ा पर वफ़ा की" ॥ १० ॥
उसे मोमिन न समझो ऐ बरहमन।
"सताए जो कोई ख़िलक़त ख़ुदा की" ॥ ११ ॥"

यह १५ दिसंबर, १८८३ के 'ब्राह्मण' में प्रकाशित हुई थी। उस समय गोरक्षा-विषयक ख़ूब चर्चा चल रही थी। आगरे में हिंदू-मुसलमानों के बीच झगड़ा भी उसी दर्मियान में हुआ था। बेगारी पकड़ने के विषय में भी 'ब्राह्मण' में कई लेख निकले थे। इन्हीं बातों को लक्ष्य करके 'बरहमन' साहब ने यह ग़ज़ल गाई थी। उर्दू में आप अपना तख़ल्लुस 'बरहमन' लिखते थे। इसी तरह की एक और कविता सुन लीजिए—

"विवादी बढे हैं यहाँ कैसे-कैसे।
"कलाम आते हैं दरमियाँ कैसे-कैसे" ॥ १ ॥
जहाँ देखिए म्लेच्छ-सेना के हाथों।
"मिटे नामियों के निशाँ कैसे-कैसे" ॥ २ ॥
बने पढ के गौरंड-भाषा द्विजाती।
"मुरीदाने पीरे-मुग़ाँ कैसे-कैसे" ॥ ३ ॥
बसो मूर्खते देवि आर्यों के जी में।
"तुम्हारे लिये हैं मकाँ कैसे कैसे" ॥ ४ ॥

* तहतुस्सरा = पाताल।

अनुद्योग, आलस्य, संतोष, सेवा ।
"हमारे भी हैं मेहरबाँ कैसे-कैसे" ॥ ५ ॥
न आई दया XXX गो-भक्षियों को ।
"तड़पते रहे नीमजाँ कैसे-कैसे" ॥ ६ ॥
विधाता ने याँ मक्खियाँ मारने को ।
"बनाए हैं ख़ुशरू जवाँ कैसे कैसे" ॥ ७ ॥
अभी देखिए क्या दशा देश की हो ।
"बदलता है रँग आसमाँ कैसे कैसे" ॥ ८ ॥
हैं निर्गंध इस भारती-वाटिका के ।
"गुलो लाला ओ अरगवाँ कैसे-कैसे" ॥ ९ ॥
हमें वह दुखद हाय भूला है जिसने ।
"तवाना किए नातवाँ कैसे-कैसे" ॥ १० ॥
प्रताप अब तो होटल में निर्लज्जता के ।
"मज़े लूटती है ज़बाँ कैसे कैसे" ॥ ११ ॥"

शृंगार-रस की कविता

कानपुर के कवियों ने जो 'रसिक-समाज' नाम का कवि-समाज स्थापित किया था, उसके प्रतापनारायणजी बड़े उत्साही मेंबर थे। जब तक वह उनके सामने चला, उसमें प्रायः समस्या-पूर्ति ही का उद्योग रहा। 'रसिक वाटिका' * नाम

* जब सन् १८९७ ईसवी में कानपुर में कवि-समाज की स्थापना की गई, तब प्रतापनारायणजी की रुचि पर ध्यान रखकर ही उसका नाम 'रसिकसमाज' और उसकी पत्रिका का नाम 'रसिक वाटिका' रक्खा गया।

की पुस्तक की एक जिल्द में इस समाज के काव्य-कलाप के साथ प्रतापनारायण की जो कविता छपी है, उससे हम उनके कुछ पद्य चुनकर पाठकों को भेंट करते हैं। प्रतापनारायण शृंगार-रस के भी प्रेमी थे। ये उदाहरण भी उसी रस के हैं—

(पपिहा जब पूछिहै पीव कहाँ)

"बन बैठी है मान की मूरति-सी
मुख खोलत बोलै न 'नाहिं' न 'हाँ';
तुमहीं मनुहारि कै हारि परे
सखियान की कौन चलाई कहाँ।
बरखा है प्रतापजू धीर धरौ
अबलौं मन को समुझायो जहाँ,
यह ब्यारि तबै बदलैगी कछू
पपिहा जब पूछिहै पीव कहाँ ॥ १ ॥"

(वीर बली धुरवा धमकावैं)

"बूड़ि मरै न समुद्र में हाय
ये नाहक हाथ निछीछे डुबावै,
का तजि लाज गराज किए
मुख कारो लिए इत-ही-उत धावैं।
नारि दुखारिन पै बजमारे
वृथा बुँदियान के बान चलावै;
बीर हैं तौ बलबीरहि जायकै
बीर बली धुरवा धमकावै ॥ २ ॥"

(बजनी घुँघुरू रजनी उजियारी)

"आसव छाकि खुली छति पै
खुलि खेलति जोबन की मतवारी ;
गात - ही - गात अदा - ही - अदा
कढ़ै बात-ही-बात सुधा सुखकारी ।
रंग रचै रस राग अलापि
नचै परताप गरे भुज डारी ;
ता छिन छावै अजीब मजा
बजनी घुँघुरू रजनी उजियारी ॥ ३ ॥"

(देह धरे को यहै फल भाई)

"नैनन में बसै साँवरो रूप
रहै मुख नाम सदा सुखदाई ;
त्यों श्रुति में ब्रज-केलि-कथा
परिपूरण प्रेम प्रताप बड़ाई ।
कोऊ कछू कहै होय कहूँ कछु
पै जिय में परवाहि न लाई ;
नेह निभै नँदनंदन सों नर-
देह धरे को यहै फल भाई ॥ ४ ॥"

(धुरवान की धावन सावन में)

"सिर चोटी गुँथावती फूलन सों
मेंहदी रचि हाथन पाँवन में ;

परताप त्यों चूनरी सूही सजी
मन मोहती हावन - भावन में।
निस-द्यौस बितावती पीतम के सँग
भूलन मे औ' झुलावन में;
उनहीं को सुहावन लागत है
धुरवान की धावन सावन में ॥ ५ ॥"

शकुंतला

पंडित प्रतापनारायण ने शकुंतला का जो अनुवाद हिंदी मे किया है, वह अनुवाद नहीं कहा जा सकता; हॉ, स्वतंत्र या स्वच्छंद अनुवाद कहा जा सकता है। मूल के भावों को इन्होंने अनुवाद मे बहुत कुछ घटा-बढ़ा दिया है। इस बात को उन्होंने भूमिका मे स्वीकार किया है। ऐसा करने से अगर कही-कहीं मूल का मजा जाता रहा है, तो कही-कहीं अधिक भी हो गया है। हम यह नही कह सकते कि यह अनुवाद सब कही अच्छा ही हुआ है, पर इसका अधिक अंश रोचक, रसवान् और मनोहर है। इस अनुवाद का एक नमूना देकर हम 'प्रेमदास' 'प्रताप हरि' से विदा होंगे—

चौथे अंक की बात है। कण्व प्रवास से वापस आ गए है। उनकी आज्ञा से उनका शिष्य यह देखने के लिये कुटी से बाहर निकला है कि कितनी रात बाकी है। इधर-उधर देखने पर उसे मालूम हुआ कि प्रातःकाल हो गया। तब वह कहता है—

"यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना-
माविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः ।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ॥ १ ॥
अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे
दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीय शोभा ।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य
दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि ॥ २ ॥"

भावार्थ—जिन ओषधियों का सेवन बड़े-बड़े भयंकर रोगों का—नहीं, मृत्यु तक का—नाश कर सकता है, उन्हीं का स्वामी, चंद्रमा, एक तरफ, अस्त हो रहा है। दूसरी तरफ, जिसकी जंघाएँ (रानें) तक नहीं, ऐसे अनुरूप सारथी को रथ के आगे बिठलाकर सूर्य उदित हो रहा है। इस प्रकार एक ही साथ, दो तेजस्वी पिंडों की संपदा और विपदा को दिखाकर, अपनी-अपनी अवस्थाविशेष में, मनुष्यों का मानो नियमन किया जा रहा है। अर्थात् संपत्ति और विपत्ति के समय किसी को भी हर्ष या विषाद करना उचित नहीं ॥ १ ॥ जो कुमुदिनी अपनी प्रफुल्लित अवस्था में परम शोभामयी थी, वही, चंद्रमा के अस्त हो जाने पर, मेरी आँखों को अच्छी नहीं लगती। अब उसमें उसकी पहली शोभा नहीं रही। उस शोभा का अब स्मरण-मात्र शेष है; वह दिखाई नहीं देती। सच है, अपने प्रियतम के प्रवासी होने के

कारण उत्पन्न हुआ दुःख अबलाओं को अत्यंत दुःसह होता है ॥ २ ॥

प्रतापनारायण ने इसका अनुवाद नहीं किया। सिर्फ इसकी छाया लेकर उन्होंने जो कविता लिखी है, वह इस प्रकार है—

"प्रभावती

कैसी कमनीय है प्रभा प्रभात काल की।

दिनकर करि इत उजास, इत लहि ससि तेजनास,
कै रहे दसा प्रकास मानो जग-जाल की;
कुमुदिनि सोभा-विहीन, विरहिनि इव दुखित दीन,
लागति नैनन मलीन, देखत दिसि ताल की।
दरभ की कुटीन त्यागि, उठहिं मोर जागि-जागि,
बेदिन ढिग लागि-लागि ऐंडनि मृगमाल की;
इहि छिन सब साधु-संत, प्रेम-पूरि ह्वै इकंत,
सुमिरत महिमा अनंत त्रिभुवन-महिपाल की ॥ १ ॥

दोहा

तो हमहूँ गुरुदेव सों करैं निवेदन जाय;
नाथ होम-बेला भई अरुन उदित दरसाय ॥ २ ॥
बदरिबिरिछ के पात पै ओस बुंद छबि छाय;
कैसी लगति सुहावनी अरुन-उदय-दुति पाय ॥ ३ ॥

सवैया

सोई निसापति जो गिरि मेरु पै, पाँव धरे बिचरै निसि माहीं;
त्यों तमतोमहि नासत जासु मरीचिका श्रीहरि-धाम लौं जाहीं।

तेज गँवाय गिरै नभ ते सोउ भोर समै दबिकै रवि पाहीं ;
या जग माहिं बड़ेहू-बड़ेन की दीसति है थिर सपति नाहीं ॥४॥"

प्रतापनारायण का अनुवाद इसी तरह का है। इसी से उसकी योग्यता का अंदाज़ा पाठक कर सकते है। पिछला सवैया अपूर्व है ; याद रखने लायक है ; शिक्षा ग्रहण करने लायक़ है।

लिख चुकने पर यह लेख हमने उन सज्जनों को दिखलाया, जो प्रतापनारायण से अच्छी तरह परिचित हैं, और जो उनके पास हमेशा बैठा-उठा करते थे। उनकी राय से, जहाँ कहीं संशोधन की जरूरत समझी गई, वहाँ हमने इसमे संशोधन कर दिया। इस पर भी यदि कोई बात भ्रम से ऐसी लिख गई हो, जो ठीक न हो, तो पाठक क्षमा करे।

[मार्च १९०६

कविवर नवीनचंद्र सेन बी० ए०

वंग-कवि-कुल-कोकिल बाबू नवीनचंद्र सेन बी० ए०, वंग-भाषा के प्रसिद्ध कवि थे। उन्होंने सब मिलाकर कोई दस-बारह उत्तमोत्तम काव्य-ग्रंथों की रचना की है। उनकी कविता बड़ी ही मधुर, मनोहारिणी, सरस और उच्च-भाव-पूर्ण होती थी। वंग देश में उसका बड़ा आदर है। कहते हैं कि बंगाल मे जितने महाकवि हुए हैं, नवीनचंद्र की गिनती उन्हीं में थी। शोक की बात है कि गत २३ जनवरी, १६०६ ईसवी को, बासठ वर्ष की उम्र में, उनका देहांत हो गया।

पूर्व पुरुष और जन्म

बाबू नवीनचंद्र वैद्य-जाति के थे। उनकी जाति-गत उपाधि सेन और नवाब-दत्त उपाधि राय थी। उनके पूर्वज राढ़-देश के निवासी थे। महाराष्ट्र-विप्लव के समय अपना देश छोड़कर वह चटगाँव-ज़िले के नयापाड़ा-गाँव मे आ बसे थे। बाबू नवीनचंद्र का जन्म, १८४६ ईसवी मे, इसी ग्राम मे, हुआ था। उनके पिता का नाम गोपीमोहन राय था और माता का राज-राजेश्वरी। बाबू गोपीमोहन राय चटगाँव के जज की अदालत में पेशकार थे। कुछ दिनों बाद, नौकरी छोड़कर, वह वकालत

श्रीयुत नवीनचन्द्र सेन बी० ए०

करने लगे थे। मरने के कुछ वर्ष पहले वह मुंसिफ हो गए थे। वह बड़े ही लोकप्रिय, धर्मनिष्ठ, दयालु और दानी थे। इसी से अक्सर ऋण-ग्रस्त रहते थे। कविता रचने और गाने-बजाने का भी उन्हें बड़ा शौक था। नवीनचंद्र के जन्म के तीसरे दिन उत्सव की तैयारी हो ही रही थी कि घर मे आग लग गई। फल यह हुआ कि केवल उन्ही का घर नही, किंतु सारा गॉव भस्मीभूत हो गया। यह देखकर कि नवीनचंद्र की बदौलत प्राचीन गॉव नष्ट होकर नवीन हो गया है, उनके कुल-गुरु की पत्नी ने उनका नाम नवीनचंद्र रक्खा।

बाल्य-काल और शिक्षा

बालक नवीनचंद्र यथासमय गॉव की पाठशाला मे पढ़ने के लिये बिठाए गए। वहॉ उन्होंने आठ वर्ष की उम्र तक पढा। आठवें वर्ष पाठशाला की पढ़ाई समाप्त करके स्कूल मे पढ़ने के लिये, अपने पितृव्य मदनमोहन राय के साथ, वह चटगॉव गए और वहॉ के सरकारी स्कूल मे भर्ती हुए। दस वर्ष की उम्र मे उनके पितृव्य का देहांत हो गया। इससे उनके दिल पर कड़ी चोट लगी। कारण यह था कि मदनमोहन बाबू अपने भतीजे नवीनचंद्र को बहुत चाहते थे। इसी समय गृहदाह, मुकदमेबाजी आदि अनेक दुर्घटनाएँ उनके परिवार मे हुई। वह भी कुछ दिनों के लिये बीमार हो गए।

चटगॉव के स्कूल मे नवीनचंद्र की गिनती नटखट लड़को मे थी। उनके कारण सहपाठी लड़कों की नाक मे दम रहता

था। लड़के क्या, कभी-कभी शिक्षक महाशय तक उनकी व्यंग्योक्तियों का निशाना बन जाते थे। शाम-सबेरे नदी-किनारे और निर्जन स्थानों मे घूमना और प्रकृति की मनोहारिणी शोभा देखना उन्हे इसी समय से अत्यंत प्रिय था।

नवीनचंद्र ने चटगाँव के स्कूल से प्रवेशिका-परीक्षा पास की। परीक्षा मे वह प्रथम आए। उन्हे छात्र-वृत्ति भी मिली। उसके बाद कॉलेज मे पढ़ने के लिये वह कलकत्ते आए और प्रेसीडेंसी-कॉलेज मे भर्ती हो गए। कलकत्ते आने के दूसरे वर्ष नवीनचंद्र का विवाह हुआ। विवाह के बाद ही उन्होंने एफ़० ए०-परीक्षा पास की, परंतु इस बार वह छात्र-वृत्ति न पा सके। इससे उन्होने प्रेसीडेंसी-कॉलेज छोड़ दिया और जेनरल एसेम्ब्लीज़ कॉलेज मे प्रविष्ट होकर बी० ए० मे पढ़ने लगे। इस समय अपने व्यय के लिये पिता को कष्ट देना उचित न समझकर वह दो-एक लड़के पढ़ाने और उसी से अपना खर्च चलाने लगे। जिस समय बी० ए०-परीक्षा के सिर्फ़ तीन महीने बाकी थे, उनके पूजनीय पिता का देहांत हो गया। इससे वह अत्यंत शोकाकुल हुए। उन्हे चारो ओर अंधकार-ही अंधकार दिखाई देने लगा। यह बहुत सच है कि विपद् अकेली नही आती। इसी समय महाजनो ने तड़ातड़ी मचाना और नालिश-पर-नालिश करना शुरू किया। परंतु नवीनचंद्र बड़ी ही दृढ़ प्रकृति के मनुष्य थे। वह ज़रा भी विचलित न हुए। माता और स्त्री का सब गहना बेचकर

उन्होंने सारा ऋण चुका दिया, और फिर पूर्ववत् पढ़ने लगे। १८६८ ईसवी में उन्होंने बी० ए० पास किया।

सरकारी सेवा

इसी समय बाबू नवीनचंद्र का परिचय स्वर्गीय विद्यासागर महाशय से हुआ। ज्यों ही विद्यासागर महाशय को मालूम हुआ कि नवीनचंद्र की दशा इस समय बड़ी खराब है, त्यों ही उन्होंने उसको दूर करने की चेष्टा की। फल यह हुआ कि बी० ए० पास करने के कुछ ही महीनों बाद बाबू नवीनचंद्र डिप्टी-मैजिस्ट्रेट हो गए। इस पद पर आप कोई बाईस वर्ष तक अधिष्ठित रहकर अपना कर्तव्य योग्यता-पूर्वक निर्वाह करते रहे। १६०० ईसवी मे पेंशन लेकर आप इस पद से अलग हुए। तब से लेकर मृत्यु के समय तक आप अपना सारा समय साहित्य-सेवा और भगवद्भक्ति मे ही बिताते रहे।

काव्य-रचना

बाबू नवीनचंद्र जब कॉलेज मे पढ़ते थे, तभी से कविता रचने लगे थे। कविता की रचना-प्रणाली की शिक्षा उन्होंने अपने शिक्षक, पंडित जगदीशचद्र तर्कालंकार, से पाई थी। एक दिन उनकी एक कविता पंडित शिवनाथ शास्त्री की नजर से गुज़री। उसे देखकर वह बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने वह कविता एजुकेशन-गज़ट के संपादक, बाबू प्यारीचरण सरकार, को दिखलाई। सरकार महाशय दूसरे ही दिन नवीनचंद्र के क्लास मे पहुँचे

और उनकी खूब प्रशंसा करके बोले कि तुम एजुकेशन-गज़ट के लिये सदा कविता लिखा करो। नवीनचंद्र की कविता पहलेपहल एजुकेशन-गजट ही मे प्रकाशित हुई। उनकी पहली ही कविता देखकर लोगो को मालूम हो गया कि वंग-देश के काव्याकाश मे एक नवीन चंद्र का उदय हुआ है। फिर क्या था, उनका असाधारण प्रतिभा और कवित्व-शक्ति की ख्याति शुक्ल-पक्ष के चंद्रमा की तरह दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ने लगी। तब से मृत्यु के समय तक उन्होने फुटकर कविताओं के सिवा अनेक महाकाव्य, खंड-काव्य, काव्य और चंपू ग्रंथो की रचना की। उनमे से ये ग्रंथ मुख्य है—

(१) अवकाशरंजिनी (दो भाग)
(२) पलासीर युद्ध
(३) रंगमती
(४) रैवतक
(५) कुरुक्षेत्र
(६) प्रभास
(७) अमिताभ
(८) गीता
(९) चंडी
(१०) खृष्ट
(११) भानुमती
(१२) प्रवास-पत्र

कवित्व

बाबू नवीनचंद्र सेन बडे प्रतिभाशाली कवि थे। उन्होंने अपने महाकाव्यों मे निष्काम-धर्म, त्याग-धर्म, भगवद्भक्ति और विश्व-प्रेम के उच्च आदर्श का जैसा मनोहर चित्र खींचा है और सरस तथा मधुर भाषा मे जिस सौंदर्य और चरित्र की सृष्टि की है, वह वंग-भाषा के साहित्य मे चिर काल तक अमर रहेगी और पुण्यप्रभ ध्रुव-तारा के समान बंगालियों को प्रकृत पथ दिखलाती रहेगी। क्या भाव, क्या भाषा, क्या रसावतारणा, सभी बातों मे नवीनचंद्र कविजन-वांछित गुणों के अधिकारी थे।

ऊपर जिन पुस्तकों के नाम लिखे गए है, उनमे सबसे पहले अवकाशरंजिनी-नामक गीति-काव्य, १८७३ ईसवी मे, प्रकाशित हुआ था। उसमे ग्रंथकर्ता का नाम न था। अर्थात् यह पुस्तक बेनाम ही छपी थी। परलोक-वासी बंकिम बाबू द्वारा संपादित वंगदर्शन नाम के मासिक पत्र मे इसकी बड़ी अच्छी समालोचना हुई। इससे बाबू नवीनचद्र का नाम सर्व-साधारण मे ख्यात हो गया। अवकाशरंजिनी नवीन बाबू का एकमात्र गीति-काव्य है। इसके सिवा उन्होंने और कोई गीति-काव्य नहीं रचा। वंग-देश के प्रायः सभी बड़े बड़े कवियो ने गीति-काव्य बनाए है। पर उनके काव्य नवीन बाबू के गीति-काव्य की बराबरी नहीं कर सकते।

इसके दूसरे साल 'पलासीर युद्ध'-नामक महाकाव्य प्रकाशित

हुआ। इसने नवीन बाबू को बंग-साहित्य के एक बहुत ऊँचे आसन पर विठा दिया। इसकी भाषा बहुत ही सुस्पष्ट और ओजस्विनी हुई। बंकिमचंद्र ने तो इसे अग्नि-तुल्य ज्वालामयी कहा। वास्तव मे वह है भी अत्यंत तीव्र और उग्र। ऐसी सबल भाषा और वर्णनाभंगी हेमचंद्र के सिवा अन्य किसी बंग-कवि के काव्य मे मिलना मुश्किल बात है। बाबू नवीनचंद्र ने युद्धस्थल का जैसा अद्भुत चित्र खींचा है, वैसा किसी बंगाली कवि से नहीं बन पड़ा। परंतु सबसे बड़ी बात यह है कि कवि ने वीर और करुण-रस का एकत्र समावेश करने मे अपनी असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया है। ऐसा जान पड़ता है, मानो कवि ने आग्नेय गिरि के अग्निस्राव के साथ करुणा-मंदाकिनी की पवित्र धारा बहाई है।

इसके बाद बाबू नवीनचंद्र ने रंगमती-नामक काव्य की रचना की। परंतु इस काव्य को देखने से मालूम होता है कि कवि की प्रवृत्ति बदलने लगी है। इसकी भाषा मे वह जोर नहीं है। 'पलासीर युद्ध' की रचना के समय कवि का जो उद्देश था, वह अब पूर्ण रूप से बदल गया था। इस रुचि-परिवर्तन के अनेक लोग अनेक कारण बतलाते है। किसी-किसी का कथन है कि पलासी के मैदान मे जिस विश्वासघातकता और गृह-विवाद ने भारत के इतिहास को कलंकित किया था, उसे कवि ने प्राचीन भारत के रण-क्षेत्रो मे भी विद्यमान पाया। इसके बाद कवि ने सोचा कि प्राचीन

काल मे क्या कोई ऐसा भी महापुरुष हुआ है, जिसने इस 'क्षतच्छिन्न विक्षिप्त भारत' मे एक महाधर्म-साम्राज्य स्थापित करने की कोशिश की हो ? इस समय उसे भगवान् कृष्णचंद्र के सिवा और कोई न देख पड़ा। बस, इसीलिये कवि ने उनकी सौम्य मूर्ति को सम्मुख रखकर अपने परवर्ती काव्यों की रचना की। रैवतक, प्रभास, कुरुक्षेत्र आदि काव्य इसी श्रेणी के हैं।

बाबू नवीनचंद्र अपने अपूर्व प्रतिभा-बल से भारत के भविष्य इतिहास का आभास दे गए हैं। किस रास्ते, किस तरह चलने से भारत की पूर्व-ज्ञानगरिमा, पूर्व-ऐश्वर्य, पूर्व-ऋद्धि-सिद्धि लौट आवेगी—कवि ने अपने चित्रित कृष्ण-चरित में इसी का इशारा किया है।

उपसंहार

उदयास्त जगत् का नियम है। इसी नियम के अनुसार वंग-देश के आकाश मे सुधांशु के समान उदित होकर नवीनचंद्र ने अपने काव्य-रूपी प्रकाश से वंग-देश को प्रकाशित किया था। इसी नियम के अनुसार वह अस्त हो गए हैं। वह अस्त हो गए, तो हो जायँ, परंतु उनकी कवि-कीर्ति उनको अमर रक्खेगी। जब तक बंगाल मे वंग-भाषा का प्रचार रहेगा, जब तक संसार मे बंगाली-जाति विद्यमान रहेगी, तब तक लोग अपने मनोमंदिर मे उनकी पूजा करेंगे। नवीनचंद्र का नाम बंगाली कभी न भूलेंगे।

ईश्वर से प्रार्थना है कि ऐसा एक आध महाकवि न सही, तो अच्छा कवि ही इन प्रांतों में भी पैदा करे, जहाँ की मुख्य भाषा हमारी दीना, हीना और क्षीण-कलेवरा हिंदी है। ईश्वर से प्रार्थना करने का कारण यह है कि मनुष्यों से प्रार्थना करना अरण्य-रोदन करना है। वे तो अपनी मातृभाषा की सेवा करना, उसमे वार्तालाप करना और उसे लिखना एक प्रकार अपनी वेइज्जती समझते हैं।

[एप्रिल १९०९

(७)

कविवर रवींद्रनाथ ठाकुर

कविवर रवींद्रनाथ ठाकुर बंगाल के प्रसिद्ध पुरुषों मे से है। वह वंग-साहित्य के देदीप्यमान रत्न है। बंगाल मे ऐसा कोई भी घर न होगा, जिसमे उनके काव्य और निबंध, उनके उपन्यास और नाटक, उनकी आख्यायिकाएँ और गान न पढ़े जाते हों। उन्होंने अपनी लेखनी के वल से शिक्षित बंगालियों के विचारों मे बहुत बड़ा परिवर्तन कर डाला है। इसीलिये वह इस समय वंग-भाषा के अद्वितीय लेखक समझे जाते हैं।

रवींद्र बाबू का जन्म सन् १८६० ईसवी मे हुआ था। वह बाबू द्वारकानाथ ठाकुर के पौत्र और सुप्रसिद्ध महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर के पुत्र है। उनका वंश अपनी विद्वत्ता के लिये चिर काल से प्रसिद्ध है। इसी वंश मे कितने ही धार्मिक, दार्शनिक, साहित्य-सेवी और शिल्पकार पुरुषों ने जन्म लेकर वंग-देश का मुख उज्ज्वल किया है।

रवींद्र बाबू मातृस्नेह से वंचित रहे। शैशव काल ही मे उनकी माता का देहांत हो गया था। पिता, महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर, ही ने उनका पालन-पोषण किया। रवींद्र बाबू ने किसी

कॉलेज मे शिक्षा नहीं पाई। स्कूल की साधारण शिक्षा प्राप्त कर लेने पर उन्होंने आगे पढ़ना बंद कर दिया। घर पर ही उनको जो शिक्षा मिली और उनके पिता ने उनके हृदय-क्षेत्र पर जिस बुद्धि-विकासक बीज का वपन किया, उसी की बदौलत रवींद्र बाबू कुछ-के-कुछ हो चले।

लड़कपन ही से रवींद्र बाबू ने अपनी कुशाग्र-बुद्धि का परिचय देना आरंभ कर दिया। जब वह पूरे १६ वर्ष के भी न थे, तभी से गद्य और पद्य, दोनों ही बहुत अच्छी प्रकार लिखने लगे। उन्हे गाने का शौक भी लड़कपन से ही हुआ। पिता को वह बहुधा पारमार्थिक गीत गा-गाकर सुनाते थे। पिता ने उनके गाने से प्रसन्न होकर, उन्हे—"वंग-देश की बुलबुल"—की उपाधि दी थी।

ज्यों-ज्यों रवि बाबू की वयोवृद्धि होती गई, त्यों-त्यो उनके विशेष गुणो का भी परिचय मिलता गया। बँगला-साहित्य के जिस विभाग मे उन्होंने हाथ डाला, उसी मे उन्हे सफलता प्राप्त हुई। रवींद्र बाबू मानव जाति के भिन्न-भिन्न भावों को शब्द-चित्र द्वारा खीचने मे बडे ही कुशल है। उनके लिखने की शैली मे कुछ ऐसा जादू है कि वह जिस ओर चाहे अपने पाठक की रुचि फेर दे। उनके लेखों मे आध्यात्मिकता भी रहती है। उनकी बदौलत बंगाल के आध्यात्मिक जीवन मे बहुत उलट-फेर हो गया है। छोटी-छोटी शिक्षा-प्रद आख्यायिकाएँ लिखने मे वह अपना सानी नही रखते। भारती, बालक, साधना और

बंगदर्शन-नामक बँगला की चार मासिक पुस्तकों का संपादन भी उन्होंने बहुत काल तक किया है।

रवींद्र बाबू केवल लेखक ही नहीं हैं। वह बड़े भारी अभिनेता भी हैं। उनका सुर बहुत मीठा तो नहीं, पर संगीत-विद्या के वह पूरे ज्ञाता हैं। उन्होंने अनेक गीत बनाए हैं। उन गीतों को गाने में वह नए-नए सुरों का प्रयोग करते हैं। वह, कभी-कभी, त्योहारों या ब्रह्मसमाज के उत्सवों पर सर्व-साधारण के सामने भी गाते हैं।

वह वक्ता भी अच्छे हैं। उनकी वक्तृता बड़ी ही हृदयहारिणी होती है। उसे वह प्रायः लिखकर सुनाते हैं। उनके पढ़ने का ढंग ऐसा अच्छा है कि लोग तन्मनस्क हो जाते हैं। जब कभी उनकी वक्तृता अथवा गान सर्व-साधारण में होता है, तब बेहद भीड़ होती है।

रवींद्र बाबू बड़े स्वदेश-भक्त हैं। उन्होंने स्वदेश-भक्ति पर कितनी ही कविताएँ लिखी हैं। मातृभूमि के वह पक्के आराधक हैं, और स्वदेश-प्रेम से उनका हृदय परिपूर्ण है। परंतु उनकी इस देश-भक्ति में संकीर्णता और विदेश तथा विदेशियों के प्रति द्वेष नाम को भी नहीं। वह राजनीतिज्ञ भी हैं, परंतु उनकी राजनीतिज्ञता वाग्वितंडा ही में नहीं समाप्त हो जाती। उनकी राजनीति चरित-निर्माण से बहुत अधिक संबंध रखती है।

रवींद्र बाबू न बी० ए० हैं और न एम्० ए०। उन्होंने किसी विश्वविद्यालय से कोई उपाधि नहीं पाई। परंतु वह इतने

अध्ययनशील है कि प्रसिद्ध-प्रसिद्ध भाषाओं की नामी-नामी पुस्तकों मे शायद ही कोई ऐसी हो, जिससे वह परिचित न हों। केवल ज्ञान-वृद्धि के लिये उन्होंने भारत ही मे भ्रमण नहीं किया, किंतु योरप, अमेरिका और जापान भी घूम आए हैं। लंदन मे उन्होंने कुछ काल तक अँगरेजी-साहित्य की शिक्षा भी प्राप्त की है। कलकत्ते के पास बोलपुर मे रवींद्र बाबू का एक 'शांतिनिकेतन' है। उसमे उन्होंने एक ब्रह्मचर्याश्रम खोल रक्खा है। वहाँ विद्यार्थी अपने शिक्षकों के साथ रहकर, ब्रह्मचर्य-पालन करते हुए, उपयोगी शिक्षा प्राप्त करते हैं। आगे चलकर यह निकेतन विश्वभारती का रूप ग्रहण करनेवाला है।

साहित्य-सेवियों में बहुधा पारस्परिक प्रीति का अभाव देखा जाता है। इसे बहुत लोग अच्छा नहीं समझते। इस अभाव को दूर करने की चेष्टा भी, कभी-कभी, सभा-समिति-सम्मेलन करके की जाती है। इस विषय मे, रवींद्र बाबू ने एक लेख मे अपनी सम्मति इस प्रकार प्रकट की है—

"इसमे संदेह नहीं कि साधारणतः मनुष्यों मे पारस्परिक प्रीति का होना कल्याणकारी है। साहित्य-सेवियों मे भी यदि प्रीति-बंधन घनिष्ठ हो, तो अच्छी बात है। परंतु साहित्य-सेवियों मे प्रीति-विस्तार से किसी विशेष फल की प्राप्ति हो सकती है, यह मानने के लिये मै तैयार नहीं। अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि लेखक लोग यदि एक दूसरे को प्यार करें,

तो इससे उनके रचना-कार्य में भी विशेष सुबीता हो अथवा लेखकों का इससे कोई विशेष उपकार हो। व्यवसाय की दृष्टि से प्रत्येक साहित्य-सेवी स्वतंत्र है। वे लोग परस्पर परामर्श करके, सम्मिलित भाव से, अपना-अपना काम नहीं करते (क्योंकि वे किसी ज्वाइंट स्टॉक कंपनी के मेंबर नहीं)। प्रत्येक लेखक अपनी निज की प्रणाली का अनुसरण करके, अपनी-अपनी विद्या-बुद्धि के अनुसार, सरस्वती की सेवा करता है। जो लोग दस आदमियों के दिखाए पथ पर चलकर, निश्चित नियमों के अनुसार, काम करना चाहते हैं, सरस्वती कभी उनको अमृत फल देने की कृपा नहीं करती (साहित्य में सांप्रदायिकता इष्ट नहीं)।"

"जो साहित्य सेवी इस प्रकार एकाधिपत्य द्वारा परिवेष्टित हैं, उनमें कभी-कभी पारस्परिक परिचय और प्रीति नहीं देखी जाती, कभी-कभी तो उनमें ईर्ष्या और कलह की संभावना तक हो जाया करती है। एक पेशेवालों में चढ़ा-ऊपरी का भाव दूर करना दुःसाध्य है। मनुष्य-स्वभाव में बहुत कुछ संकीर्णता और विरूपता है। उसका संशोधन करना प्रत्येक मनुष्य की अपनी आतरिक चेष्टा का काम है। किसी कृत्रिम प्रणाली द्वारा उसका प्रतिकार नहीं हो सकता। यदि इस तरह प्रतिकार संभव होता, तो इस समय, इस विषय में, जो उद्योग हम लोग कर रहे हैं, उसके बहुत पहले ही सत्ययुग का आविर्भाव हो गया होता।"

रवींद्रनाथ बाबू ने गद्य-पद्यात्मक सैकड़ों पुस्तकें बँगला में लिखी हैं। अँगरेजी लिखने की योग्यता रखने पर भी वह उस भाषा में अपने विचार नहीं प्रकट करते। यहाँ तक कि जो लोग अपने देश-भाइयों और आत्मीय जनों के साथ अँगरेजी-भाषा में पत्र-व्यवहार करते हैं, उनके इस काम को रवींद्र बाबू लज्जाजनक और गर्हित समझते हैं।

रवींद्र बाबू एक महान् पुरुष हैं। सरस्वती ही की आराधना करके वह महान् हुए हैं। गत जनवरी में बँगाल ने जो सम्मान रवींद्र बाबू का किया और हाथीदाँत के पत्र पर खचित अभिनंदनपत्र, रजत-अर्घ्यपात्र, सोने का एक कमल और एक माला आदि चीजें जो उन्हें भेंटे की, वह सम्मान और वह भेंट यथार्थ में रवींद्र बाबू की नहीं, किंतु देवी सरस्वती की है। धन्य है वह देश और वह जाति, जो अपने साहित्य-सेवियों का आदर करके भगवती सरस्वती की उपासना करे, और धन्य है वह महान् पुरुष, जो सरस्वती-मंदिर का पुजारी होने के कारण अपने देश और जातिवालों से सम्मानित हो।

[मार्च, १९१२